शिवसूत्रम्

165
गुप्त/वा/शि

आचार्यकृष्णानन्दसागरः

65

आचार्य कृष्णानन्द सागर

डी० ३५/१३५, बांसफाटक
वाराणसी

दिनाङ्क.....................

पुस्तक नाम- शिव सूत्रम्

टीकाकार- सम्पादक- आचार्य कृष्णानन्द सागर
डी० ३८।१३५ बांसफाटक वाराणसी

प्रकाशक- श्री माधवानन्द आश्रम, धर्मज, खेड़ा

प्रकाशन वर्ष- १९८४ ई०

मैं उत्तर प्रदेश (काशी में) सत्तरह वर्षों से रह रहा हूं महात्मा होने के कारण जन्म स्थान सम्पूर्ण जगत है । शिवसूत्रम् की ' शिवसूत्र रञ्जनी ' मेरी मौलिक टीका है, भूमिका के साथ सम्पादित कर वर्ष १९८४ में प्रथम बार प्रकाशित किया है ।

कृष्णानन्दसागर:
।। कृष्णानन्द सागर: ।।

उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी
भूमा वै सुखम्

उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी, लखनऊ

पुस्तकालय

परिग्रहण क्रमाङ्क 65641

वर्गाङ्क 165

पुस्तकाङ्क गुप्त | व | शि

शिवसूत्रम्

ŚIVASŪTRAM

Shri Shivoham Sagar Granthamala's Seventh Pushpa-

165
गुल/व/शि

Shri Acharya Vasugupta's

ŚIVA SŪTRAM

With Five Commentaries

1. Shvasutravritti OF Shri Acharya Bhattakallat
2. Shvasutravartika OF Shri Acharya Bhatta Bhaskara
3. Shvasutravimarshini OF Shri Acharya Kshemaraja
4. Shvasutravartika OF Shri Acharya Varadaraja
5. Shvasutraranjani OF Shri Acharya Krishnanandasagar

Edited with Introduction

Sarvadarshanacharya Shri Krishnananda Sagar

Under direction from

1008 Mahamandaleshvara

Shri Svami Akhandananda Sagar Maharaja

श्रीशिवोऽहंसागरग्रन्थमालायाः सप्तमं पुष्पम्—

महामाहेश्वराचार्यश्रीवसुगुप्तपादविरचितं

शिवसूत्रम्

टीकापञ्चकोपेतम्

१. शिवसूत्रवृत्तिः	श्रीमदाचार्य भट्टकल्लटस्य
२. शिवसूत्रवार्तिकम्	श्रीमदाचार्य भट्टभास्करस्य
३. शिवसूत्रविमर्शिनी	श्रीमदाचार्यक्षेमराजस्य
४. शिवसूत्रवार्तिकम्	श्रीमदाचार्य वरदराजस्य
५. शिवसूत्ररञ्जनी	श्रीमदाचार्यकृष्णानन्दसागरस्य

तच्च

अनन्तश्रीविभूषित १००८ महामण्डलेश्वर–
अखण्डानन्दसागरमहाराजानां

निदेशेन
सर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरेण
भूमिकया सह सम्पाद्य
प्रकाशितम्

Published by :

Acharya Krishnanand Sagar,
Shri Madhavanand Ashram
P.O.-Dharmaja. Dist-Keda.
Gujarat.

First Edition 1984

Price Rs.

Copies can be had From
Shri Om Prakash Saraf
D. 38/135, Bans Phatak
Varanasi-221 010

Printed by :
Jyoti Press,
Madhyameshwar
VARANASI.

श्रीशौ वन्दे

शुभाशंसनम्

शैवदर्शने उभावपि वादौ—द्वैतवादाद्वैतवादौ च वर्तेते। तत्र दक्षिणदेशीयं वीरशैवदर्शनं द्वैतवादमतमनुगच्छति, कश्मीरदेशीयं च शैवमतं खलु मुख्यतोऽद्वैतवादमतमनुयाति।

तत्र किलादः 'शिवसूत्रम्' साक्षाद्भगवतः शिवादागतं ग्रन्थरत्नं तत्रस्थानि च शिवसूत्राणि शिवोपदिष्टानीति स्पन्दशास्त्रे परिपुष्टः सर्वैरनुयायिभिः प्रवादः स्वीकृतः। अत एवास्य ग्रन्थरत्नस्यानादित्वं वेदवदपौरुषेयत्वं त्रिकदर्शने च प्रस्थानग्रन्थवन्मान्यत्वमिति प्रत्यभिज्ञादर्शनानुसारिभिरुरीकृतम्।

यद्यपि शैवाचार्यक्षेमराजकृता शिवसूत्रविमर्शिनीनामधेया व्याख्या परमां प्रसिद्धिं मान्यतां च गतेति जानन्त्येव सर्वे तथाप्यन्यास्तित्रष्टीका अत्र ग्रन्थे सम्पादिताः मुद्रिताश्चापि महत्त्वमावहन्ति।

सर्वदर्शनाचार्येण श्रीकृष्णानन्दसागरपण्डितेन स्वकीयया व्याख्यापरया 'शिवसूत्ररञ्जनी'नामिकया विशिष्टया टीकया समलंकृत्य शिवसूत्रमित्याख्यग्रन्थरत्नस्येत्थं च पञ्चटीकोपेतस्य यत्सम्पादनं कृतं तदर्थं ते श्रीकृष्णानन्दसागरमहाभागा भूरिशो धन्यवादार्हाः प्रशंसाभागिनोऽस्माकमाशीर्वादार्हाश्च।

मन्ये इमे विचक्षणास्त्रिकाख्यप्रत्यभिज्ञामतस्य स्पन्दशास्त्रापरनामधेयस्यान्यान्दुर्बोध्यान् ग्रन्थान् सरलसुबोधव्याख्योपेतान् विधाय प्रकाशयिष्यन्तीति—

वैक्रमाब्दे २०४१ संवति
मार्गशीर्षशुक्लत्रयोदश्याम्

शुभाशंसी
करुणापति त्रिपाठी
वाराणसीस्थः

भूमिका

त्रिकदर्शन :—

त्रिकदर्शन का व्यवस्थित प्रवर्धन काश्मीर में अष्टमशताब्दी के उत्तरार्ध से प्रारम्भ हो चुका था, किन्तु नवमशताब्दी में यह पूर्णतया विकसित हुआ है। यद्यपि आगमशास्त्रों से तथा गुरुपरम्परा के आधार से त्रिकदर्शन का निर्माण तो इससे भी पूर्वकाल से चला आ रहा है। अतः इसका काल निश्चित करना कठिन ही है। आगमशास्त्र, स्पन्दशास्त्र और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र इस प्रकार त्रिकदर्शन के आधारस्तम्भ शास्त्रों को तीन भागों में विभक्त किया जाता है। इनमें शैवागमों का प्रमुख स्थान है। श्री अभिनवगुप्त-पादाचार्य ने श्रीतन्त्रालोक के ११-१२-३६ आह्निकों में श्रीकण्ठनाथ की आज्ञा से त्र्यम्बकादित्य, आमर्दक और श्रीनाथ ने त्रिविध शैवतन्त्रों का प्रचार-प्रसार किया था, तथा १३-३६ आह्निकों में यह वर्णन किया है कि अर्धत्र्यम्बक एक अपर भी आगम-सम्प्रदाय है जिसका प्रवर्तन त्र्यम्बक की पुत्री ने किया था। दक्षिण का वीरशैवदर्शन द्वैतप्रधान और काश्मीर का यह त्रिकदर्शन पूर्णतया अद्वैतप्रधान है। राजतरंगिणी के विभिन्न प्रसंगों के विवेचनानुसार भगवान् परमशिव की आराधना काश्मीर में अनादिकाल से चली आ रही है। इस दर्शन का शास्त्रीय नाम त्रिकशासन अथवा त्रिक है। इसको रहस्यसम्प्रदाय तथा त्र्यम्बकसम्प्रदाय भी कहते हैं। सिद्धा, नामक और मालिनी इन तीन आगमों को, शिव, शक्ति और अणु को, पति, पाश और पशु को, शिव, शक्ति और नर को, देवी के परा, अपरा और तत्परा इन तीन रूपों को मानने से; भेद, अभेद और भेदाभेद का वर्णन करने के कारण इसको 'त्रिक' कहा जाता है। और इसे शास्त्रज्ञों ने सर्वश्रेष्ठ कह कर घोषित किया है। जैसा कि—

वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम्।
ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं मतम्॥

इस सर्वोत्तमतत्त्व का भगवान् शङ्कर ने श्री वसुगुप्तपादाचार्य को शिवसूत्रों के रूप में, स्वप्न में आकर ज्ञान दिया और इन्होंने इसका भली प्रकार मनन कर त्रिकशासन को जनकल्याणार्थ प्रतिष्ठापित किया।

'शिवसूत्रम्' नामक इस प्रस्तुत लघुकलेवर ग्रन्थ में शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय और आणवोपाय इन तीन प्रकरणों का समुल्लेखन किया गया है। शैवदर्शन के सारा का सारा प्रतिपाद्यविषय इन्हीं प्रकरणों में विषयविवेचन की दृष्टि से वर्णित है। अत एव यह त्रिकदर्शन के नाम से संस्कृतवाङ्मय में प्रतिष्ठित हो गया।

यद्यपि यह उपायत्रय वस्तुतत्त्व की दृष्टि से एक ही अनुत्तरतत्त्व का प्रतिपादन करता है। किन्तु अधिकारी के भेद से भिन्न-भिन्न प्रक्रिया का अवलम्बन लेकर साधक-जन को समझाता है जिससे मुमुक्षुजन सहज-सरलतया अपने आत्मतत्त्व को जान सके।

प्रथम उन्मेष में शाम्भवोपाय की दृष्टि से अनुत्तर शिवतत्त्व का विवेचन किया

गया है। आत्मस्वरूप की प्राप्ति में समस्त प्रमेयपदार्थों का प्रशमन अत्यन्त आवश्यक है इसलिये कि त्रिकदर्शन में सर्वोत्कृष्ट उपाय हठपाकक्रम अथवा शाम्भवोपाय का माना जाता है। वस्तुतः यही उपायक्रम पूर्णतया अभेद भावना प्रधान हैं। जैसाकि—

'स्वात्मन्येव चिदाकाशे विश्वमस्म्यवभासयन्।
स्रष्टा विश्वात्मक इति प्रथया भैरवात्मता॥

यह प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयरूप सारा विश्व मुझ चिद्रूप से आविर्भूत हुआ है। अनतिरिक्त होने पर भी अतिरिक्त के समान मुझमें स्थित तथा मुझसे सर्वथा अभिन्नरूप में स्थित है। ऐसा विमर्श ही शाम्भवोपाय है। तथा च—

मत एवोदितमिदं मय्येव प्रतिबिम्बितम्।
मदभिन्नमिदं चेति त्रिधोपायः स शाम्भवः॥' त. ३-२८०॥

श्रीतन्त्रालोककार के शब्दों में यह कहा जाता है कि मैं ही अपने स्वरूपभूत अहन्तात्मक चिदाकाश में विश्व को प्रकाशित करता हूँ। इसलिये मैं ही इस विश्व का सृजनकर्ता हूँ तथा यह सारा षडध्वसमुदाय वर्ण-पद-मन्त्र-कला-तत्त्व एवं भुवन मुझ चिद्रूप में ही प्रतिभासित होता है। अतः मैं ही स्थितिकर्ता पालकदेव हूँ और अन्त में यह सारा विश्व प्रपञ्च मुझमें ही विश्रान्ति पाया है अतः मैं समस्त प्रमेय वर्ग का संहारकर्ता शिव हूँ। इस प्रकार अनुसन्धान करनेवाला योगी विश्रान्ति को पाता है अर्थात् अपरिमेय विचित्रविश्व से युक्त भवप्रपञ्चात्मक स्वप्न गृह को दग्ध करनेवाला देदीप्यमान हुताशनरूप शिव मैं ही हूँ—ऐसा निरन्तर अनुभवप्रकाशपूर्वक अभ्यास शाम्भवोपाय कहलाता है जो कि साधक को परमशिवता की प्राप्ति करा देता है।

शाक्तोपाय और आणवोपाय में क्रम से भेदाभेद और भेदपूर्वक स्नान, व्रत, देहशुद्धि, धारणा-ध्यान और मन्त्र सम्बन्धी विचार भी किया जाता है, परन्तु शाम्भवोपाय में पूर्णतया अभेदभावना का विधान है, सभी बाह्योपरणों की उसमें निवृत्ति हो जाती है। अतः 'अभेदोपायमत्रोक्तं शाम्भवः।' ऐसा भी कहा जाता है।

शान्ति अथवा मधुरपाक क्रम में मन्त्र और मुद्रावीर्य के अनुसन्धानस्वरूप शाक्तोपाय का ग्रहण अभीष्ट ही है; क्योंकि यह स्वरूप परामर्शात्मक है। इसी में समस्त बाह्य और आन्तर विकल्प-कल्पनाओं का चिदग्नि में हवन हो जाता है अतः 'शाक्तमुच्यते भेदाभेदात्मकोपायम्।' यह शाक्तोपाय भेदाभेदप्रधान माना जाता है। जैसाकि—शिवस्तोत्रावली में कहा गया है—

सर्वभावमयभावमण्डलं विश्वशक्तिमयशक्तिबर्हिषि।
जुह्वतो मम समोऽस्ति कोऽपरो विश्वमेधमययज्ञयाजिनः॥

भेदोपायं तदाणवम्। अर्थात् आणवोपाय भेदप्रधान है इसलिये इसमें यम-नियम-प्राणायाम आदि साधनों की साधक को अपेक्षा रखनी पड़ती है और यह उक्त साधनों के अवलम्बन से ही प्राप्य भी है। श्रीतन्त्रालोक में मोक्ष के चार मार्गों का समुल्लेखन

किया गया है। अनुपाय-शाम्भवोपाय-शाक्तोपाय और आणवोपाय। जो कि अनुपाय में शाम्भवोपाय का ही चरमरूप है। साक्षादुपायेन इति शाम्भवेन। तदेव हि अव्यवहितं परज्ञानवाप्तौ निमित्तं स एव परां काष्ठां प्राप्तश्चानुपाय उच्यते। अनुपाय पूर्णतया परमेश्वर की अनुग्रहशक्ति पर केन्द्रित है, गुरु की अनुग्रहशक्ति के सकृत् तत्त्वोपदेशक्रम से अपने स्वस्वरूप का उन्मीलन हो जाता है। अनेक बार भावना का अनुसन्धान इसमें अपेक्षित नहीं है और आणवोपाय में तत्त्वोपदेश प्रक्रिया की असकृत् भावना करने पर ही स्वरूप-लाभ हो पाता है। आचार्य 'जयरथ' ने अनुपाय का अर्थ अल्पोपाय अनुदया कन्यावत् किया है। जोकि सकृत् उपदेशरूपता ही अल्पोपाय है। शाम्भवोपाय में तीव्र शक्तिपात की अपेक्षा समझी जाती है और अनुपाय में तीव्र-तीव्र शक्तिपात के बिना निरुपाय-समावेशदशा का लाभ कदापि संभव नहीं हो सकता है। जैसे एक प्रदीप से दूसरा प्रदीप प्रज्वलित किया जाता है। और यही क्रम अनुपाय में संघटित होता है। अनुपाय को आनन्दोपाय भी कहा जाता है। जैसा कि तन्त्रालोक में—

'भूयो भूयो विकलांशनिश्चयक्रमचर्चनात्।
यत्परामर्शमभ्येति ज्ञानोपायं तु तद्विदुः॥
यत्तु तत्कल्पनाक्लृप्तबहिर्भूतार्थसाधनम्।
क्रियोपायं तदाम्नातं भेदो नात्रापवर्गतः॥ १४८-१४९॥

तत्राद्ये स्वपरामर्शे निर्विकल्पैकधामनि।
यः स्फुरेत् प्रकटं साक्षात् तदिच्छाख्यं प्रकीर्तितम्॥ १४६॥
एवं परेच्छाशक्त्यंश सदुपायमिमं विदुः।
शाम्भवाख्यं समावेशं सुमत्यन्तेनिवासिनः॥ २३३॥

अर्थात् शाम्भवोपाय को इच्छोपाय, शाक्तसमावेश को ज्ञानोपाय और आणवोपाय को क्रियोपाय भी कहा जाता है। इन्हीं उपायत्रय से सर्वोत्कृष्ट परम ज्ञान स्वरूप अनुत्तरतत्त्व आनन्दशक्तिमात्र में अवस्थित रहता है। यथा—

विभुशक्त्यणुसम्बन्धात् समावेशस्त्रिधा मतः।
इच्छा - ज्ञान - क्रिया योगादुत्तरोत्तरसम्भूतः॥
ततोऽपि परमं ज्ञानमुपायादिविवर्जितम्।
आनन्दशक्तिविश्रान्तमनुत्तरमिहोच्यते ॥ त. २४२॥

शाम्भव समावेशदशा में विचारों की सरणि प्रशान्त हो जाती है और उसमें विकल्प की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती है। सद्गुरु द्वारा प्रदत्त तत्त्वोपदेशक्रम से समस्त हृदयगत अज्ञानात्मक ग्रन्थियाँ विच्छिन्न हो जाती है जिससे सारा अहंममभाव गल जाता है। ऐसी स्थिति में बाह्यभावनाओं की अपेक्षा न रखनेवाली अविकल्पात्मा संवित् परमशिव से अभेद प्राप्त करा देती है यही शाम्भवसमावेश है। जैसाकि—

'अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधितः ।
उत्पद्यते स आवेशः शाम्भवोऽसावुदारितः ॥ १६८ ॥
अकिञ्चिच्चिन्तकस्येति विकल्पानुपयोगिता ।
तथा च अहिति ज्ञेयसमापत्तिर्निरूप्यते ॥ १७१ ॥
तेनाविकल्पा संवितिर्भावनाद्यनपेक्षिणी ।
शिवतादात्म्यमापन्ना समावेशोऽत्र शाम्भवः ॥ १७८ ॥

अर्थात् शाम्भवसमावेशावस्था में सुप्रबुद्धयोगी चिद्रूप में निरन्तर प्रतिष्ठित रहता है इसलिये कि चिद्रूपता समस्त विश्व का स्वभाव है वही आत्मा है फिर उसकी साधना ही क्या हो सकती है ? और उसके लिये उपाय ही क्या होगा ? इसमें प्रत्यक्षादि प्रमाण की भी अपेक्षा नहीं है; क्योंकि चैतन्य सदा स्वयं प्रकाशात्मा है । शिवसूत्र में 'चैतन्यमात्मा' यह कहा गया है । चैतन्य-चिति ही आत्मा है । चैतन्य और आत्मा में राहोशिरवत् काल्पनिक भेद है । जिससे चेतनता मुख्य हो चेतनतत्त्व है और ज्ञानात्मक क्रिया में स्वातन्त्र्य रखनेवाला ही चैतन्य है यही आत्मा चेतनता का स्वरूप है ।

चैतन्यमात्मनो रूपं सिद्धं ज्ञानक्रियात्मकम् ॥ शि.सू. वा. १५ ॥

ज्ञानरूप क्रिया में सर्वतन्त्र स्वतन्त्रभाव ही चैतन्य का स्वभाव है ।

शाक्तोपाय :—

इस द्वितीय उन्मेष में शाक्तोपाय द्वारा परशिवतत्त्व का विवेचन किया गया है । 'भेदाभेदौ हि शक्तिता' इसमें बाह्य मन्त्रोच्चारण, करण, ध्यान, वर्ण एवं स्थानविशेष भी कल्पना का अभाव है इसी से अभेदावस्था है और मनसा इन सबों का चिन्तन होने के कारण विकल्पात्मक भेदप्रथा भी हो सकती है इसलिये युक्तितः दोनों ही स्वीकार किया जाता है । यही शाक्तसमावेशदशा है । जैसाकि—

उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयत् ।
यः समावेशमाप्नोति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते ॥ मा० वि० ॥

इसको ज्ञानोपाय इसलिये कहा जांता है कि जब साधक 'आत्मैवेदं सर्वम् ।' यह सारा दृश्यप्रपञ्च आत्मा का ही स्वभाव है इस प्रकार से विमर्श करता है तो इसमें इदमंश और अहमंश का विकल्प रहता है । अहं ही इदंरूप से आभासित हो रहा है ऐसा असकृत् दृढतया अभ्यास करने से अभेदात्मक विमर्श की स्थिति पर पहुँच जाता है । अतः 'चित्तं मन्त्रः' अर्थात् मन्त्रदेवता के परामर्शवशात् सामरस्य को प्राप्त हुआ साधक का चित्त ही मन्त्र है । साधक मन्त्रभावपूर्वक आराधना करना है तो उसकी आराधना 'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्' शिव होकर ही शिव की आराधना बन जाती है । अत एव शाक्तोपाय में बाह्यसाधना की अत्यन्त अपेक्षा समझी जाती है और इसी से वह अहं-विमर्श में आरूढ हो सकता है । 'प्रयत्नः साधकः' साधक का अपना सहज यत्न ही इष्टदेवता से अभिन्न-

रूपता प्राप्त करा देता है। इसी से समस्त प्रमेयपदार्थों में उत्पन्न अज्ञानजनित भेदप्रथा विगलित हो जाती है। भेदात्मक ज्ञान से सहजदशा दूर रहती है। इसलिये 'ज्ञानं बन्धः' यह सूत्र में निर्दिष्ट है, इस द्वैतबन्धन द्वारा अन्तःकरण से रागद्वैषादिभावों का प्राणी के चित्त में आविर्भाव होता रहता है।

वस्तुतः स्वरूप विमर्श का ज्ञान ही साधक के लिये पुष्टिकारक माना जाता है जैसा कि 'ज्ञानमन्नम्' ऐसा सूत्र द्वारा प्रतिपादन किया जाता है।

आणवोपाय :—

अणु-जीव की संज्ञा है इसलिये इसको जीवोपाय भी कहा जाता है। आणवोपाय भेद प्रधान है। जैसाकि—'भेदोपायं तदाणवम्।' इस तन्त्रालोक की युक्ति से सिद्ध होता है। अथवा अणुषु भेदिषूपायेषु भवः आणवः।

साधक को जीवभाव की निवृत्ति के लिये नाना साधनों का आश्रय लेना पड़ता है। प्राणायाम, मन्त्र, जप, करण, ध्यान, वर्ण और स्थान के भेदों से युक्त समावेश आणवोपाय कहलाता है। भेदप्रथामयी कल्पनाओं से प्रकल्पित, उच्चारादि बहिर्भूत अर्थ का उपकरण होने से यह क्रियोपाय से भी प्रसिद्ध है।

> उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः ।
> यो भवेत् स समावेशः सम्यगाणव उच्यते ॥

इस उपाय से परमशिव का स्वरूप अवगत हो जाता है। जैसाकि तृतीय उन्मेष में कहा गया है 'शिवतुल्यो जायते।' आणवोपाय की प्रक्रिया का निरन्तर अभ्यास करने से योगी साक्षात् शिवसदृश हो जाता है।

तथा च मालिनीतन्त्र में आणवोपाय का लक्षण किया गया है—और शिवतुल्य स्थिति में उसकी देहकला शनैः शनैः विगलित हो जाने पर शिव से अभिन्नभाव की प्राप्ति हो जाती है। क्रमशः सारुप्य, सायुज्य मुक्ति पा लेता है। किन्तु जो योगी की शरीर में स्थिति रहती है और यह परित्याज्य है; इसलिये कि जिन प्रारब्धकर्मों से शरीर का निर्माण होता है उन सब को भोग से ही परिशुद्धि संभव है। अतः श्रुति कहती है कि 'प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः। यह पञ्चभूतों द्वारा रचित देह तो प्रारब्ध कर्मों के अनुरूप ही बना रहता है, उन कर्मों की परिसमाप्ति शरीर द्वारा इनके भोग पर ही संभव है। ऐसी स्थिति में जब भोगपर्यन्त कर्मों की परिसमाप्ति न हो इस योगी की शरीर में रहना कैसे होगा? 'शरीरवृत्तिर्व्रत्।' इस सूत्र में समाधान किया है कि 'मैं शिवस्वरूप हूँ' इस शिवोऽहं भावना में स्थित हुआ योगी शरीर में ही अवस्थित रहता हुआ भी योगाभ्यासक्रमद्वारा देहगतवासना से छूटकारा पा लेता है। देह, प्राण आदि में रहता हुआ भी उसको शिवसमावेशरूपा स्थिति बनी रहती है। जैसा कि—

> 'सुप्रदीप्ते यथा वह्नौ शिखा दृश्येत् चाम्बरे।
> देहप्राणस्थितोऽप्यात्मा तद्वल्लीयेत तत्पदे ॥

जैसे काष्ठादि वस्तुओं में लगी अग्नि की ज्वाला आकाश में जाकर विलीन हो

जाती है, वैसे ही देहादि में स्थित हुए भी योगी की आत्मा शिवतत्त्व में समाहित हो जाती है।

शैवागम का दार्शनिककाल :—

काश्मीर शैवदर्शन का मुख्य स्रोत शैवागम है। शैवाचार्य वेदों के समान शैवागम-ग्रन्थों का उद्‌गम अनादिकाल से मानते हैं। इसलिये कि शैवागमों को इस विषय में किसी निश्चित तीथि में बाँधा नहीं ज़ा सकता है। तथा इस सम्प्रदाय का आविर्भाव भगवान् शङ्कर द्वारा ही हुआ है।

आगमकाल के अनन्तर काश्मीर शैवदर्शन के विकास में ऐतिहासिकरूप से आचार्य वसुगुप्तपाद का नाम प्रसिद्ध है। इन्होंने शैवसिद्धान्त को नूतनस्वरूप देकर एक व्यवस्थित शृङ्खला में बाँधा है। यद्यपि शैवागम अपने मूलरूप में अत्यन्त प्राचीन सिद्ध होता है तथापि इसका प्रचार-प्रसारक्षेत्र विक्रम की अष्टमशताब्दी के मध्यावधिकाल से प्रारम्भ होता है और नवमशताब्दी में इसका पूर्णतया विकसित स्वरूप जनमानस के कल्याणार्थ प्रसृत हो गया था। इस दर्शन के प्रणेता या उपदेशक आचार्य लोगों का भी जन्म काश्मीर की केसरभूमि में हुआ था।

यह समस्त शैवाद्वैतशास्त्र संसार में आने से पूर्व परावाणी के रूप में अवस्थित था, किन्तु अभिव्यक्त होने की इच्छा से यही परावाणी पश्यन्तीदशा का स्वरूप धारण कर लेती है। यद्यपि वाच्य और वाचक ये दोनों ही अविभक्तरूप में ही विद्यमान रहते हैं, तो भी यह स्थिति आगामी विश्व का पराहन्तात्मक मूलोपादान बिन्दु है। अनन्तर मध्यमा दशा में समस्त वाच्य-वाचक प्रपञ्च का विभाग संघटित हो जाता है; जिससे परमेश्वर अपनी चिद्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रियात्मक शक्तिचक्र द्वारा वैखरी दशा के रूप में विकसित कर देते हैं। जिन्हें क्रमशः ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, अघोर और वामदेवात्मक पञ्चमुख कहा जाता है। अभेद, भेदाभेद और भेदात्मक समस्त शास्त्र इसी के अन्तर्गत आ जाता है। प्राचीन काल में इन्हीं पञ्चमुखों से चौसठ तन्त्र और शैवागमों का आविर्भूत हुआ था। कलिकाल के प्रभाव से तत्त्वोपदेशकों की परम्परा का ह्रास हो गया था। इसलिये प्रायः समस्त शैवाशास्त्रों का जनमानस से विलोप हो चुका था। दीर्घकालानन्तर कैलास पर्वत पर परिभ्रमण करते हुए भगवान् शङ्कर ने श्रीकण्ठमूर्ति का स्वरूप धारण करके श्रीदुर्वासामुनि को त्रिकशास्त्र के प्रचार-प्रसार के लिये आदेश दिया था। भगवान् श्रीदुर्वासामुनि ने भगवान् परमशिव का जनकल्याणार्थ आदेश शिरोधार्य मान कर त्र्यम्बक, आमर्दक और श्रीनाथ नामक मानसपुत्रों की सृष्टि की जो कि आगे चलकर क्रमशः उनलोगों ने अद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैत सिद्धान्तों की जनहितार्थ स्थापना की, इनमें त्रैयम्बक सम्प्रदाय अद्वैतवादी, त्रिकसिद्धान्त ही सर्वोत्कृष्टया प्रशस्त माना जाता है। श्री सोमानन्दपाद इसी परम्परा के आचार्य हैं। त्र्यम्बक की चतुर्दश पीढियों के पश्चात् पन्द्रहवें मानसपुत्र ने एक ब्राह्मणकन्या से विधिपूर्वक पाणिग्रहण संस्कार

किया था और उससे क्रमशः संगमादित्य-वर्षा-दित्य-अरुणादित्य-आनन्द-सोमानन्दपाद हुए। इस प्रकार वंशावली का क्रम 'शिवदृष्टिः' नामक श्रीसोमानन्दपाद के ग्रन्थ में प्रतिपादित है। अत एव 'शिवदृष्टिः' इस शैवदर्शन की परम्परा का एक विलक्षण ग्रन्थरत्न है; यहाँ से ही लिखितरूप में इस दर्शन का प्रचार-प्रसार हुआ इस ग्रन्थ से प्रचार-प्रसार अत्यधिक फैला है, इस ग्रन्थ का आधार लेकर श्री उत्पलाचार्य ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञा आदि ग्रन्थों का निर्माण किया है। इन्हीं के शिष्य श्रीलक्ष्मणगुप्त और इनके शिष्य श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य थे। जिन्होंने आगम, शिवाद्वयवाद और काव्यशास्त्र से सम्बन्धित विपुल साहित्य का सृजन किया है और अभिनवगुप्तपादाचार्य के शिष्य श्री राजानक क्षेमराज तथा इनके शिष्य राजानक श्री योगाचार्य जिन्होंने स्पन्दकारिका के ऊपर संस्कृतवाङ्मय में व्याख्या की हैं।

श्री वसुगुप्तपादाचार्य की परम्परा में क्रमशः आचार्यों का नाम निम्नाङ्कित रूप से उद्धृत है—

श्रीमन्महादेवगिरौ वसुगुप्तगुरोः पुरा।
सिद्धदिशान्प्रादुरासन् शिवसूत्राणि तस्य हि॥
रहस्यान्यतः सोऽपि प्रादाद् भट्टाय सूरये।
श्रीकल्लटाय सोप्येवं चतुःखण्डानि तान्यथा॥
व्याकरीत् त्रिकमेतेभ्यः स्पन्दसूत्रैः स्वकैस्ततः।
तत्त्वार्थचिन्तामण्याख्यटीकया खण्डमन्तिमम्॥
एवं रहस्यमप्येष मातुलेयाय चावदत्।
श्रीमत्प्रद्युम्नभट्टाय सोऽपि स्वतनयाय च॥
श्रीमत्प्रज्ञार्जुनाख्याय प्रादात्सोऽप्येवमावदत्।
श्रीमहादेवभट्टाय स्वशिष्यायाप्यसौ पुनः॥
श्रीमच्छ्रीकण्ठभट्टाय प्रददौ स्वसुताय च।
तस्मात् प्राप्य करोम्येष सूत्रवार्तिकमादरात्॥
दैवाकरिर्भास्करोऽहं अन्तेवासिगणेरितः॥ शि. सू. वा. ३-८॥

श्रीवसगुप्तपादाचार्य-भट्टकल्लट-प्रद्युम्नभट्ट-प्रणर्जुन-महादेवभट्ट-श्रीकष्ठभट्ट-भास्कर।

नरसिंहगुप्त के वंश में ही श्रीवसुगुप्तपादाचार्य जा जन्म हुआ था। इन्होंने काश्मीर प्रदेश के हार्वन नामक स्थान के समीप महादेवगिरि पर्वत पर भगवान् परमशिव की उपासना की और इससे शिव ने स्वप्न में ही शिवसूत्रों के विषय में अवगत करवाया कि छादीग्राम की वनस्थली में एक शिला पर शिवसूत्र उत्कीर्ण है। ये स्वप्नकालीन घटनानुसार उस स्थान पर गये जहाँ शिला पर शिवसूत्र उत्कीर्ण थे। सम्प्रति वह शिला शङ्करपल के नाम से प्रसिद्ध है यह श्रीभट्टकल्लट के वाक्य से भी अवगत होता है—

लब्ध्वं महादेवगिरौ महेशस्वप्नोपदिष्टाच्छिवसूत्रसिन्धोः।
स्पन्दामृतं यद्वसुगुप्तपादैः श्रीकल्लटस्तत्प्रकटीचकार॥'

आगमिकसंस्कृतसाहित्य

शैवदर्शन के मूल उपजीव्य मालिनीविजयोत्तरतन्त्र, स्वच्छन्दतन्त्र, नेत्रतन्त्र, मृगेन्द्रतन्त्र, नैःवासतन्त्र, रुद्रयामलतन्त्र, विज्ञानभैरव, आनन्दभैरव, उच्छुष्मभैरव, परात्रिंशिका, आदि महत्त्वपूर्ण आगमिक ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों के प्रणेता भगवान् शङ्कर ही है। इस प्रकार इन आगमिक ग्रन्थों का पर्यालोचन कर स्पन्द, प्रत्यभिज्ञा के नाम से यह त्रिकशासन का प्रतिष्ठापन हुआ। मृगेन्द्रतन्त्र और नेत्रतन्त्र कालिकागम के अन्तर्गत आते हैं जो कि ये भेदप्रधान है एवं अन्य ग्रन्थ अद्वैत, द्वैत तथा विशिष्टाद्वैत के प्रतिपादक हैं। राजानक श्रीक्षेमराज द्वारा प्रणीत स्वच्छन्दतन्त्र एवं नेत्रतन्त्र पर व्याख्याएँ द्वैतवाद का निराकरण कर अद्वैतवाद का विवेचन करती हैं।

शिवसूत्रवृत्ति :—

शिवगुप्त के शिष्य श्रीभट्टकल्लट के नाम से प्रचलित 'शिवसूत्रवृत्तिः' यह अत्यन्त सरल एवं संक्षिप्त में है।

शिवसूत्रवार्त्तिक :—

यह वार्त्तिक त्रिकशास्त्र के अत्यन्त गूढ अर्थों का प्रकाशन करती है। श्रीवसुगुप्तपादाचार्य की परम्परा में श्रीभट्टभास्कर का सप्तम स्थान (पीढी) में आता है, यह इनकी वार्त्तिक से ही अवगत हो जाता है। ३९०/ पद्यों में इसका निर्माण किया है।

शिवसूत्रविमर्शिनी :—

श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य के प्रमुखशिष्य श्री राजानक क्षेमराज द्वारा प्रणीत शिवसूत्रविमर्शिनी आगमिक धारा की एक विलक्षण व्याख्या है समस्त आगमग्रन्थों का उद्धरण देते हुए प्रत्येक सूत्रों की विशदतया एवं उक्त व्याख्याकारों के विचारों को पुष्ट करते हुए विवेचना की है। त्रिकदर्शन की परम्परा में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है; क्योंकि इनकी अन्य आगमिकग्रन्थों की व्याख्या से पूर्णतया अद्वैत का ही भाव झलकता है।

शिवसूत्रकर्तिक :—

श्री क्षेमराज के ही शिष्य श्री वरदराजाचार्य द्वारा प्रणीत वार्तिक उक्त सभी व्याख्याओं का सारतत्त्व एवं गभीर गूढार्थ का विवेचन करती है। पद्यों में रचित होने पर भी यह सूत्रों के अर्थों का भली प्रकार प्रकाशन करती है।

भगवान् परम शिव की अनुग्रहशक्ति साधारण व्यक्ति पर अनुग्रह कर कर्मयोग के रूप में यत्किञ्चित् करा लेती है जिससे मुझ जैसे पामरपशु को भी जीवन में कुछ परमेश्वर की भक्ति के गुणगान का अवसर मिल जाता है। महेश्वर की महान् महिमा से, कुछ साधुप्रकृति के लोग के उत्साहवर्धन एवं सहयोग से यह 'शिवसूत्ररञ्जनी' का कार्य कर सका हूँ। वस्तुतः यह सब उनकी आन्तरिक पवित्र-भावना का ही प्रतीक है। भगवान् परमशिव उन सबका कल्याण करें।

कृष्णानन्दसागरः

शिवसूत्रम्

प्रथम उन्मेषः

सूत्राणि | पृष्ठाः

१. चैतन्यमात्मा । १
२. ज्ञानं बन्धः । ८
३. योनिवर्गः कलाशरीरम् । १०
४. ज्ञानाधिष्ठानं मातृका । १२
५. उद्यमो भैरवः । १५
६. शक्तिचक्रसंधाने विश्वसंहारः । १७
७. जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तभेदे तुर्याभोगसंभवः । २०
८. ज्ञानं जाग्रत् । २१
९. स्वप्नो विकल्पाः । २२
१०. अविवेको मायासौषुप्तम् । २४
११. त्रितयभोक्ता वीरेशः । २५
१२. विस्मयो योगभूमिकाः । २८
१३. इच्छाशक्तिरुमा कुमारी । ३०
१४. दृश्यं शरीरम् । ३२
१५. हृदये चित्तसंघट्टाद्दृश्यस्वापदर्शनम् । ३४
१६. शुद्धतत्त्वसंधानाद्वाऽपशुशक्तिः । ३६
१७. वितर्क आत्मज्ञानम् । ३८
१८. लोकानन्दः समाधिसुखम् । ३९
१९. शक्तिसंधाने शरीरोत्पत्तिः । ४१
२०. भूतसंधान-भूतपृथक्त्व-विश्वसंघट्टाः । ४३
२१. शुद्धविद्योदयाच्चक्रेशत्वसिद्धिः । ४५
२२. महाह्रदानुसंधानान्मन्त्रवीर्यानुभवः । ४७

द्वितीय उन्मेषः

सूत्राणि — पृष्ठाः

१. चित्तं मन्त्रः । ५१
२. प्रयत्नः साधकः । ५४
३. विद्याशरीरसत्ता मन्त्ररहस्यम् । ५५
४. गर्भे चित्तविकासोऽविशिष्टविद्यास्वप्नः । ५८
५. विद्यासमुत्थाने स्वाभाविके खेचरी शिवावस्था । ६०
६. गुरुरुपायः । ६३
७. मातृकाचक्रसंबोधः । ६४
८. शरीरं हविः । ६८
९. ज्ञानमन्नम् । ७०
१०. विद्यासंहारे तदुत्थस्वप्नदर्शनम् । ७२

तृतीय उन्मेषः

१. आत्मा चित्तम् । ७५
२. ज्ञानं बन्धः । ७७
३. कलादीनां तत्त्वानामविवेको माया । ७८
४. शरीरे संहारः कलानाम् । ८२
५. नाडीसंहार-भूतजय-भूतकैवल्य-भूतपृथक्त्वानि । ८४
६. मोहावरणात् सिद्धिः । ८७
७. मोहजयादनन्ताभोगात् सहजविद्याजयः । ८९
८. जाग्रत् द्वितीयकरः । ९२
९. नर्तक आत्मा । ९३
१०. रङ्गोऽन्तरात्मा । ९५
११. प्रेक्षकाणीन्द्रियाणि । ९६
१२. धीवशात् सत्त्वसिद्धिः । ९७
१३. सिद्धः स्वतन्त्रभावः । ९८
१४. यथा तत्र तथान्यत्र । १००
१५. बीजावधानम् । १०१
१६. आसनस्थः सुखं ह्रदे निमज्जति । १०२
१७. स्वमात्रानिर्माणमापादयति । १०३

सूत्राणि पृष्ठाः

१८. विद्याऽविनाशे जन्मविनाशः ।	१०६
१९ कवर्गादिषु माहेश्वर्याद्याः पशुमातरः ।	१०८
२०. त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेच्यम् ।	१११
२१. मग्नः स्वचित्तेन प्रविशेत् ।	११३
२२. प्राणसमाचारे समदर्शनम् ।	११५
२३. मध्येऽवरप्रसवः ।	११६
२४. मात्रास्वप्रत्ययसंधाने नष्टस्य पुनरुत्थानम् ।	११८
२५. शिवतुल्यो जायते ।	१२०
२६. शरीरवृत्तिर्व्रतम् ।	१२२
२७. कथा जपः	१२४
२८. दानमात्मज्ञानम् ।	१२७
२९. योऽविपस्थो ज्ञाहेतुश्च ।	१२८
३०. स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम् ।	१३१
३१. स्थितिलयौ ।	१३३
३२. तत्प्रवृत्तावप्यनिरासः संवेत्तृभावात् ।	१३४
३३. सुखदुःखयोर्बहिर्मननम् ।	१३७
३४. तद्विमुक्तस्तु केवली ।	१३९
३५. मोहप्रतिसंहतस्तु कर्मात्मा ।	१४०
३६. भेदतिरस्कारे सर्गान्तरकर्मत्वम् ।	१४२
३७. करणशक्तिः स्वतोऽनुभवात् ।	१४३
३८. त्रिपदाद्यनुप्राणनम् ।	१४५
३९. चित्तस्थितिवच्छरीरकरणबाह्येषु ।	१४८
४० अभिलाषाद्बहिर्गतिः संवाह्यस्य ।	१५०
४१. तदारूढप्रमितेस्तत्क्षयाज्जीवसंक्षयः ।	१५२
४२. भूतकञ्चुकीतदा विमुक्तो भूयः पतिसमः परः ।	१५४
४३. नैसर्गिकः प्राणसंबन्धः ।	१५६
४४. नासिकान्तर्मध्यसंयमात् किमत्र सव्यापसव्यसौषुम्नेषु ।	१५९
४५. भूयः स्यात् प्रतिमीलनम् ।	१६१

ॐ नमः सच्चिदानन्ददेवाय

अथ

शिवसूत्रम्

टीकापञ्चकोपेतम्

प्रथम उन्मेषः

चैतन्यमात्मा ॥ १ ॥

श्रीमदाचार्यभट्टकल्लटविरचितशिवसूत्रवृत्तिः

चेतयते इति चेतनः सर्वज्ञानक्रियास्वतन्त्रः तस्य भावश्चैतन्यं

श्रीमदाचार्यभट्टभास्करविरचितशिवसूत्रवार्तिकं

हिमगिरितनयाकान्तं शशधरकलिकोत्तंसम् ।
स्थितिलयजनिकर्तारं प्रणमत वरदं देवम् ॥ १ ॥

श्रीमदाचार्यक्षेमराजविरचितशिवसूत्रविमर्शिनी

आसमञ्जस्यमालोच्य वृत्तीनामिह तत्त्वतः ।
शिवसूत्रं व्याकरोमि गुर्वाम्नायविगानतः ॥

श्रीमदाचार्यवरदराजविरचितशिवसूत्रवार्तिकं

नागबोध्यादिभिः सिद्धैर्नास्तिकानां पुरःसरैः ।
आक्रान्ते जीवलोकेऽस्मिन्नात्मेश्वरनिरासकैः ॥ १ ॥

श्रीमदाचार्यकृष्णानन्दसागरविरचितशिवसूत्ररञ्जनी

योऽनन्तोऽनन्तशक्तिः सृजति जगदिदं पालयत्यन्तरात्मा
यो विश्रान्ते निपीय स्वकमहिमगतः सत्यचिन्मूर्त्तिरास्ते ।

सर्वज्ञानक्रियासम्बन्धमयं परिपूर्णं स्वातन्त्र्यम् उच्यते, एतदेव आत्मा, न पुनः शरीर-प्राण-बुद्धि-शून्यानि लौकिकाद्यभ्युपगतानि ।

नित्योदितनिजाभासस्फुरत्तानिह्नुतात्मने ।
शिवाय परिपूर्णैकचिद्रूपवपुषे नमः ॥ २ ॥
श्रीमन्महादेवगिरौ वसुगुप्तगुरोः पुरा ।
सिद्धादेशात्प्रादुरासन् शिवसूत्राणि तस्य हि ॥ ३ ॥
सरहस्यान्यतः सोऽपि प्रादाद्भट्टाय सूरये ।
श्रीकल्लटाय सोऽप्येवं चतुःखण्डानि तान्यथ ॥ ४ ॥

इह कश्चित् शक्तिपातवशोन्मिषन्माहेश्वरभक्त्यतिशयात् अनङ्गकृता-धरदर्शनस्थ-नाग-बोध्यादि सिद्धादेशनः शिवाराधनपरः पारमेश्वर-नाना-योगिनी-सिद्धसत्संप्रदाय-पवित्रितहृदयः श्रीमहादेवगिरौ महामाहेश्वरः श्रीमान् वसुगुप्तनामा गुरुभवत् ।

कदाचिच्च असौ 'द्वैतदर्शनाधिवासितप्राये जीवलोके रहस्यसंप्रदायो मा विच्छेदि' इत्याशयतः अनुजिघृक्षापरेण परमशिवेन स्वप्ने अनुगृह्य उन्मिषितप्रतिभः कृतः यथा "अत्र महीभृति महति शिलातले रहस्यम् अस्ति

रहस्यसम्प्रदायोऽयं मा विच्छेदीत्यतुच्छया ।
स्वेच्छया शिवसूत्राणि समालिख्य शिलातले ॥ २ ॥
महादेवगिरौ स्वप्ने माहेश्वरशिखामणेः ।
उपदिश्य प्रभुः श्रीमानुमया संप्रयोजितः ॥ ३ ॥

यो धत्ते सज्जनेषु परमकरुणया मङ्गलं मुक्तिरूपं
सो नु नित्यं समन्तात् स्फुरति जनहृदि ज्ञानमूर्त्तिः शिवात्मा ॥ १ ॥

तत्र तावद् आत्मनः स्वरूपं प्रथमं सूत्रकारः प्रदर्शयति—'चैतन्यमात्मा ।' आत्म-स्वरूपप्रदर्शनद्वारा मङ्गलमपि आनुषङ्गतो दर्शितं भवति। अनुत्तरधाम्नो भगवतः परमशिवस्य प्रकाशात्मकचैतन्यस्वरूपकत्वात् । चितिरूपस्यात्मनः ऋते कस्यापि वस्तुनो वास्तविकं सत्त्वं प्रसिद्धं नैव भवति। किन्तु चैतन्यमेव एतदात्मनः स्वाभाविकं वपुः । चैतन्यं नाम चेतयते

किंच यदेतत् चैतन्यमुक्तं स एव आत्मा स्वभावो भावाभाव-

व्याकरोत्त्रिकमेतेभ्यः स्पन्दसूत्रैः स्वकैस्ततः ।
तत्त्वार्थचिन्तामण्याख्यटीकया खण्डमन्तिमम् ॥ ५ ॥
एवं रहस्यमप्येष मातुलेयाय चावदत् ।
श्रीमत्प्रद्युम्नभट्टाय सोऽपि स्वतनयाय च ॥ ६ ॥

तत् अधिगम्य अनुग्रहयोग्येषु प्रकाशय" इति । प्रबुद्धश्च असौ अन्विष्यन् तां महतीं शिलां करस्पर्शनमात्रपरिवर्तनतः संवादीकृतस्वप्नां प्रत्यक्षीकृत्य, इमानि शिवोपनिषत्संग्रहरूपाणि शिवसूत्राणि ततः समाससाद । एतानि च सम्यक् अधिगम्य भट्टश्रीकल्लटाद्येषु सच्छिष्येषु प्रकाशितवान् स्पन्दकारिकाभिश्च संगृहीतवान् । तत्पारम्पर्य-प्राप्तानि स्पन्दसूत्राणि अस्माभिः स्पन्दनिर्णये सम्यक् निर्णीतानि शिवसूत्राणि तु निर्णीयन्ते ॥

तत्र प्रथमं नरेश्वरभेदवादि-प्रातिपक्ष्येण चैतन्यपरमार्थतः शिव एव विश्वस्य आत्मा इति आदिशति—

इह अचेतितस्य कस्यापि सत्त्वाभावात्, चितिक्रिया सर्वसामान्यरूपा इति, चेतयते इति, चेतनः सर्वज्ञानक्रियास्वतन्त्रः, तस्य भावः चैतन्यं सर्वज्ञानक्रियासंबन्धमयं परिपूर्णं स्वातन्त्र्यम् उच्यते । तच्च परमशिवस्यैव

दयया स्वयमेवासीद्देशिको यस्य शङ्करः ।
दैशिकं दैशिकानां तं वसुगुप्तं प्रभुं नुमः ॥ ४ ॥
महामाहेश्वरश्रीमत्क्षेमराजमुखोद्गताम् ।
अनुसृत्यैव सद्वृत्तिमञ्जसा क्रियते मया ॥ ५ ॥

इति चेतनः सर्वज्ञानक्रियासु स्वतन्त्रः, तस्य भावश्चैतन्यं, तथा च सर्वज्ञानक्रियासम्बन्धात्मकं परिपूर्णं सर्वतन्त्रस्वातन्त्र्यमनेन निरूपितं भवति । एतस्मिन् विषये वार्तिककारस्य मतं प्रदर्शयति—

'चैतन्यमात्मनो रूपं सिद्धं ज्ञानक्रियात्मकम् ।
तस्यानावृतरूपत्वाच्छिवत्वं केन वार्यते ॥' ॥ १ ॥

रूपस्य जगतः । तदुक्तं श्रीमदुच्छुष्मभैरवे—

श्रीमत्प्रज्ञार्जुनाख्याय प्रादात्सोऽप्येवमावदत् ।
श्रीमहादेवभट्टाय स्वशिष्यायाप्यसौ पुनः ॥ ७ ॥
श्रीमच्छ्रीकण्ठभट्टाय प्रददौ स्वसुताय च ।
तस्मात्प्राप्य करोम्येष सूत्रवार्तिकमादरात् ॥ ८ ॥
दैवाकरिर्भास्करोऽहमन्तेवासिगणेरितः ।
यस्मादागमविभ्रंशाद्भ्रान्तेर्भ्रमितबुद्धयः ॥ ९ ॥

भगवतः अस्ति; अनाश्रितान्तानां तत्परतन्त्रवृत्तित्वात् । स च यद्यपि नित्यत्व-व्यापकत्वामूर्तत्वाद्यनन्तधर्मात्मा, तथापि नित्यत्वादीनाम् अन्यत्रापि संभाव्यत्वात्, अन्यासंभविनः स्वातन्त्र्यस्यैव उद्धुरीकारप्रदर्शनमिदम् । इत्थं धर्मान्तरप्रतिक्षेपतश्च, चैतन्यमिति भावप्रत्ययेन दर्शितम् । तदेतत् आत्मा; न पुनरन्यः कोऽपि भेदवाद्यभ्युपगतो भिन्नभिन्नस्वभावः । तस्य अचैतन्ये जडतया अनात्मत्वात् । चिदात्मत्वे भेदानुपपत्तेः; चितो देशकालाकारैः चिद्व्यतिरेकात् अचेत्यमानत्वेन असद्भिः, चेत्यमानत्वेन तु चिदात्मभिः, भेदस्य आधातुम् अशक्यत्वात्; चिन्मात्रत्वे तु आत्मनां स्वभावभेदस्य अघटनात्; वक्ष्यमाणनीत्या अव्यतिरिक्तमलसंबन्धयोगेनापि भेदस्य अनुपपत्तेः; प्राक् मलस्य सत्त्वेऽपि मुक्तिदशायां तदुपशमनात् नानात्मवादस्य वक्तुम् अशक्यत्वात्, मलसंस्कारसंभवे वा, अनादिशिवात् कथंचित् अपकर्षे वा, मुक्तशिवाः संसारिण एव स्युरिति । यथोक्तम्—

वार्तिकं शिवसूत्राणां वाक्यैरेव तदीरितैः ।

तत्र नरेशनैकात्म्यवादिनां प्रातिकूल्यतः ॥ ६ ॥
चितिक्रियात्मचैतन्यमूर्तिर्जीवजडात्मनः ।
परमः शिव एवात्मा प्रपञ्चस्येति कथ्यते ॥ ७ ॥

ईदृशं स्वातन्त्र्यं षड्विधैश्वर्यसम्पन्नं भगवतः परमशिवस्यैव विद्यते । परमेश्वरस्य एतदेव स्वातन्त्र्यं यदतिदुर्घटकारित्वम् अस्ति । सदाशिवप्रभृतीनां प्रमातृवर्गात्मकशिवतत्त्वरूपाणाम् ईदृशं स्वातन्त्र्यं न विद्यते खलु । शिवतत्त्वमपि वस्तुतः परमशिवतत्त्वात् न्यूनं

'यावन्न वेदका एते तावद्वेद्याः कथं प्रिये ।
वेदकं वेद्यमेकं तु तत्त्वं नास्त्यशुचिस्ततः ॥'

इति ॥ १ ॥

सुकुमारा अतस्तानि सूत्राणि विवृणोमि च ।

तत्रात्मन्येव शिवता सर्वस्याखण्डितैव हि ॥ १० ॥
सदास्त्यहन्तेदन्तादिज्ञानाभासादिनावृता ।
तस्यावृतिविनाशाय स्वरूपज्ञप्तये शिवः ॥ ११ ॥

'चैतन्यमेक एवात्मा……'

इति नानात्मवादस्य अनुपपत्तिः सूचिता ।

अथ च 'आत्मा क' इति जिज्ञासून् उपदेश्यान् प्रति बोधयितुं, न शरीर-प्राण-बुद्धि-शून्यानि लौकिक-चार्वाक-वैदिक-योगाचार-माध्यमिकाद्यभ्युपगतानि आत्मा; अपि तु यथोक्तं चैतन्यमेव । तस्यैव शरीरादि-कल्पित-प्रमातृपदेऽपि अकल्पिताहंविमर्शमय-सत्यप्रमातृत्वेन स्फुरणात् । तदुक्तं श्रीमृत्युजिद्भट्टारके--

'परमात्मस्वरूपं तु सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
चैतन्यमात्मनो रूपं सर्वशास्त्रेषु पठ्यते ॥'

चैतन्यं चित्क्रियारूपं शिवस्य परमस्य यत् ।
स्वातन्त्र्यमेतदेवात्मा ततोऽसौ परमः शिवः ॥ ८ ॥
अथवा कोऽयमात्मेति प्रष्टॄन् बोधयितुं शिशून् ।
नात्मा देहो न च प्राणो न मनः खं न शून्यभूः ॥ ९ ॥

सृज्यमानमनाश्रितसंज्ञम् अच्छेद्याक्लेद्याशोष्यादिधर्मकम् । यद्यपि परमशिवो नित्यत्व-व्यापकत्वादिधर्मात्मा, तथापि नित्यत्वादीनाम् आकाशपरमाण्वादौ संभाव्यमानत्वात्, अन्यत्रासंभविनः स्वातन्त्र्यस्य प्रदर्शनार्थमिदमुक्तम् । एतच्च चेतनशब्दात् भावप्रत्ययेन स्फुटीकृतम् । यदाहुराचार्याभिनवगुप्तपादाः—

'चैतन्यमिति भावान्तः शब्दस्वातन्त्र्यमात्रकम् ।
अनाक्षिप्तविशेषं सद् आह सूत्रे पुरातने ॥' (त० १-२८)

सक्रमज्ञानपूर्वाणि सूत्राण्याह कृपाकुलः ।
स्वस्वरूपं शिवः साक्षात्तस्योन्मेषनिमेषतः । १२ ।
शक्तिप्रसरसंकोचनिबद्धावुदयव्ययौ ।
जगतो ज्ञानदेहस्य कलाचक्रस्य चोद्भवः ॥ १३ ॥

इति । श्रीविज्ञानभैरवेऽपि—

'चिद्धर्मा सर्वदेहेषु विशेषो नास्ति कुत्रचित् ।
अतश्च तन्मयं सर्वं भावयन् भवजिज्जनः ॥'

इति । एतदेव—

'यतः करणवर्गोऽयं ...... ।'

इति कारिकाद्वयेन संगृह्य उपदेश्यान् प्रति साभिज्ञानं गुरुणा उपदिष्टं श्रीस्पन्दे ।

किंच यदेतत् चैतन्यम् उक्तं स एव आत्मा, स्वभावः, विशेषाचोदनात् भावाभावरूपस्य विश्वस्य जगतः । नहि अचेत्यमानः कोऽपि कस्यापि कदाचिदपि स्वभावो भवति । चेत्यमानस्तु स्वप्रकाशचिदेकीभूतत्वात् चैतन्यात्मैव । तदुक्तं श्रीमदुच्छुष्मभैरवे—

किन्तु चैतन्यमेवात्मेत्यादिष्टं परमेष्ठिना ।
अथ चैतन्यमेवैतदात्मा स्वाभाविकं वपुः ॥ १० ॥
विशेषाचोदनादस्य जगतश्चेत्यरूपिणः ।
अचेत्यमानं कस्यापि वपुः किमपि नो भवेत् ॥ ११ ॥

इत्थं मात्रपदस्य तात्पर्यम् अनाक्षिप्तेति । यतो हि भावप्रत्ययान्तपदेन सहचारिधर्मान्तरनिवृत्तिमेव उच्यते । यथोक्तं—

'धर्मान्तरप्रतिक्षेपाप्रतिक्षेपौ तयोर्द्वयोः ॥
संकेतभेदस्य पदं ज्ञातृवाञ्छानुरोधितः ।
भेदोऽयमेव सर्वत्र द्रव्यभावाभिधायिनोः ॥' इति

यदुक्तं प्रत्यभिज्ञायाम्—

आत्मात एव चैतन्यं चित्क्रिया चितिकर्तृता ।
तात्पर्येणोदितस्तेन जडात्स हि विलक्षणः ॥ १-५-१२ ॥
चिति प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक्स्वरसोदिता ।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ॥ १-५-१३ ॥

तत्स्वरूपस्योपन्यासे बह्व्यो विप्रतिपत्तयः ।
संस्थितास्तद्व्युदासार्थं शिवः सूत्रमरीरचत् ॥ १४ ॥

'यावन्न वेदका एते तावद्वेद्याः कथं प्रिये ।
वेदकं वेद्यमेकं तु तत्त्वं नास्त्यशुचिस्ततः ॥'

इति । एतदेव
'यस्मात्सर्वमयो जीवः.........।'
इति कारिकाद्वयेन संगृहीतम् ।

यतः चैतन्यं विश्वस्य स्वभावः तत एव तत्साधनाय प्रमाणादि वराकम् अनुपयुक्तम्; तस्यापि स्वप्रकाशचैतन्याधीनसिद्धिकत्वात्, चैतन्यस्य च प्रोक्तयुक्त्या केनापि आवरीतुम् अशक्यत्वात् सदा प्रकाशमानत्वात् । यदुक्तं श्रीत्रिकहृदये--

'स्वपदा स्वशिरश्छायां यद्वल्लङ्घितुमीहते ।
पादोद्देशे शिरो न स्यात्तथेयं वैन्दवी कला ॥'

इति । यो लङ्घितुम् ईहते तस्य यथा पादोद्देशे शिरो न स्यात् तथा इयमिति अत्र संबन्धः । अनेननैव आशयेन स्पन्दे--

चेत्यमानं तु चिद्रूपतादात्म्याच्चिन्मयं भवेत् ।
एवं शिवोक्तया नीत्या जङ्गमस्थावरात्मनः ॥ १२ ॥
चैतन्यमेव विश्वस्य स्वरूपं पारमार्थिकं ॥ १ ॥

नन्वेवंविधविश्वस्य चैतन्यं चेद्वपुस्तदा ॥ १३ ॥

एवञ्च विषयेऽस्मिन् मलप्रतिबन्धक—तारतम्येन वादिनां प्रसक्ता विमतयो निराकृता भवन्ति । तथाहि लौकिकाः 'चैतन्यविशिष्टं शरीरमात्मा', नैयायिकादयो ज्ञानादिगुणगणाश्रयं बुद्धितत्त्वप्रायमेव आत्मानं संसृतौ स्वीकुर्वन्ति, मोक्षावस्थायां तु तेषाम् उच्छेदे शून्यप्रायम्, मीमांसकाः पुर्यष्टकम्, सौगता ज्ञानसन्तान एव तत्त्वम्, केचित् श्रुत्यन्तविदः प्राण एव आत्मा, अभावब्रह्मवादिनः असदेव इदमासीत् इति शून्यभुवमवगाह्य अवस्थिताः, माध्यमिका अपि एवमेव, पाञ्चरात्रा अव्यक्ते एव अभिनिविष्टाः, सांख्यादयस्तु विज्ञानकलावस्थायां विद्यन्ते, अपरे वेदविद ईश्वरतत्त्वम्, वैयाकरणाः शब्दब्रह्ममयं पश्यन्ती-रूपं सदाशिवतत्त्वम् ।

ज्ञानं बन्धः ॥ २ ॥

विषयज्ञानं बन्धः । अथवा अकारप्रश्लेषेण अज्ञानं बन्धः ।

चैतन्यमात्मनो रूपं सिद्धं ज्ञानक्रियात्मकम् ।
तस्यानावृतरूपत्वाच्छिवत्वं केन वार्यते ॥ १५ ॥ १ ॥
तदावृतेरुपन्याससूत्रमाह महेश्वरः ।
अहं ममेदमिति यज्ज्ञानं भेदप्रथात्मकम् ॥ १६ ॥

'यत्र स्थितम् .... ।'

इत्यादि उपक्रम्य--

'..........तदस्ति परमार्थतः ॥'

इत्यन्तेन महता ग्रन्थेन शङ्करात्मक-स्पन्दतत्त्वरूपं चैतन्यं सर्वदा स्वप्रकाशं परमार्थसत् अस्ति इति प्रमाणीकृतम् ॥ १ ॥

यदि जीवजडात्मनो विश्वस्य परमशिवरूपं चैतन्यमेव स्वभावः तत् कथम् अयं बन्ध इत्याशङ्काशान्तये संहितया इतरथा च अकारप्रश्लेषाप्रश्लेषपाठतः सूत्रम् आह--

कथं बन्धस्य संबन्ध इति शङ्कां व्यपोहितुम् ।
प्रश्लेषाश्लेषपाठाभ्यां सूत्रमाह महेश्वरः ॥ १४ ॥
अज्ञानमिति तत्राद्यं चैतन्यस्फाररूपिणि ।
आत्मन्यनात्मताज्ञानं ज्ञानं पुनरनात्मनि ॥ १५ ॥

'बुद्धितत्त्वे स्थिता बौद्धा गुणेष्वेवार्हताः स्थिताः ।
स्थिता वेदविदः पुंसि अव्यक्ते पाञ्चरात्रकाः ॥'

इत्यादिना आगमशास्त्रेषु निरूपितम् ।

एते सर्वेऽपि पारमार्थिकस्वातन्त्र्यवञ्चिता मायया भेदभूमिमापन्नाः सन्ति, न वास्तविकं परमशिवतत्त्वस्वरूपं मोक्षं लभन्ते । यद्यपि मुक्तपूर्वं मलस्य सत्त्वेऽपि मोक्षदशायां मलस्य विलयेन आत्मानां नानात्वं वक्तुं कथमपि नैव संभवति । अत एव उक्तं–चैतन्यमेवेति आत्मा ॥ १ ॥

यदि चेतनाचेतनस्वरूपस्य समस्तविश्वस्य अनुत्तरतत्त्वपरमशिवरूपं चैतन्यमेव स्वभावो वर्तते चेत्तर्हि कथमयं संसारात्मको बन्ध इति शङ्कां दूरीकर्तुं संहितापाठम् अङ्गीकृत्य अथवा विभागमवलम्ब्य अकारप्रश्लेषद्वारा सूत्रमाह—'ज्ञानं बन्धः ।' यदि संहितापाठस्तर्हि

'मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम् ।'

इति श्रीमालिनीविजये ॥ २ ॥

शब्दानुवेधतो जातं मायीयमलमूलकम् ।
तद्बन्धनं समाख्यातमविद्यावृतिलक्षणम् ॥ १७ ॥ २ ॥

शब्दानुवेधने त्वस्मिन्कारणं किमतोऽवदत् ।
सूत्रं पशोर्मोहिकानां कलानां प्रतिपादकम् ॥ १८ ॥

इह उक्तयुक्त्या चित्प्रकाशव्यतिरिक्तं न किञ्चिद् उपपद्यत इति मलस्यापि का सत्ता कीदृग् वा तन्निरोधकत्वं स्यादिति भेदवादोक्तप्रक्रिया-परिहारेण--

'मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम् ॥'

इति ।

'अज्ञानाद्बध्यते लोकस्ततः सृष्टिश्च संहृतिः ॥'

इति श्रीमालिनीविजय-श्रीसर्वाचारोक्तस्थित्या यः परमेश्वरेण स्वस्वातन्त्र्य-शक्त्याभासितस्वरूपगोपनारूपया महामायाशक्त्या स्वात्मन्याकाशकल्पेऽना-श्रितात्प्रभृति मायाप्रमात्रन्तं संकोचोऽवभासितः स एव शिवाभेदाख्यात्मका-ज्ञानस्वभावोऽपूर्णम्मन्यतात्मकाणवमलसतत्त्वसंकुचितज्ञानात्मा बन्धः । यथा च व्यतिरिक्तस्य मलस्यानुपपन्नत्वं तथा अस्माभिः श्रीस्वच्छन्दोद्द्योते पञ्च-मपटलान्ते दीक्षाविचारे वितत्य दर्शितम् । एष च सूत्रार्थः--

'निजाशुद्ध्यासमर्थस्य.........।'

देहादावात्ममानित्वं द्वयमप्येतदाणवम् ।
मलं स्वकल्पितं स्वस्मिन्बंधः स्वेच्छाविभावितः ॥ १९ ॥ २ ॥

किमाणवमलात्मैव बन्धोऽयं, नेत्युदीर्यते ।

'चैतन्यमात्माज्ञानं बन्धः' इत्येकं सूत्रं स्यात्, यदि न संहितापाठस्तर्हि यथा निर्दिष्टं सूत्र-द्वयं स्यात् । अस्यां स्थितौ अकारप्रश्लेषेण संहितायाः अभावदशायाम् अज्ञानं बन्धः, इत्युररीकर्तव्यम्; यथाश्रुते ज्ञानं नाम शरीरे आत्मबुद्धिः आत्मनि च शरीरबुद्धिः, इदम-ध्यासात्मकं ज्ञानं बन्धः संसारकारणम् । अकारप्रश्लेषे तु अज्ञानं बन्धः अर्थात् बन्धकारणम् ।

योनिवर्गः कलाशरीरम् ॥ ३ ॥

मायाप्रपञ्चोऽपि बन्धः; कामं मलमपि बन्धः; कला व्यापारः, किञ्चित्कर्तृत्वम् ॥ ३ ॥

योनयः शक्तयो ज्ञेयाश्चतस्रः सर्वकारणम् ।
अम्बा ज्येष्ठाभिधा रौद्री वामा च शिवमूर्तयः ॥ १९ ॥

इति कारिकाभागेन संगृहीतः । एवमात्मनि अनात्मताभिमानरूपाख्याति-लक्षणाज्ञानात्मकं ज्ञानं न केवलं बन्धो; यावद् अनात्मनि शरीरादौ आत्मता-भिमानात्मकम् अज्ञानमूलं ज्ञानमपि बन्ध एव । एतच्च—

'परामृतरसापाय........।'

इति कारिकया संगृहीतम् ।

एवं चैतन्यशब्देनोक्तं यत्किञ्चित् स्वातन्त्र्यात्मकं रूपं; तत्र चिदात्मन्यपि स्वातन्त्र्याप्रथात्मविज्ञानाकलवद् अपूर्णम्मन्यतामात्रात्मना रूपेण; स्वातन्त्र्येऽपि देहादौ अबोधरूपेण अनात्मन्यात्मताभिमानात्मना रूपेण; द्विप्रकारमाणवमलम् अनेन सूत्रेण सूत्रितम् । तदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम् ।

'स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥' इति ॥२॥

किम् ईदृगाणवमलात्मैव बन्धः ? न इत्याह—

योनिर्भेदप्रथाहेतुर्माया वर्गस्तदुत्थितः ॥ १७ ॥
कलादिक्षितिपर्यन्ततत्त्वराशिस्तदात्मकः ।
मायीयाख्यं मलं तत्तद्भिन्नवेद्यप्रथामयम् ॥ १८ ॥

अज्ञानं नाम माया इयमघटितघटनापटीयसी अविद्या वास्तविकात् स्वस्वरूपभूतात् परमशिवस्वरूपात् जीवात्मानं प्रच्याव्य उत्तरोत्तरं संसारसागरसहस्त्रोर्मिजालपरम्परासु पातयति—निमज्जनोन्मज्जनं कारयति । अत एवोक्तं—

'मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम् ॥' (मा० वि० १-२३) इति

एवञ्च सर्वाचारे—'अज्ञानाद् बध्यते लोकस्ततः सृष्टिश्च संहृतिः ॥'

इदं तादात्म्याध्यासात्मकं मलं न परमशिवतत्त्वम् आच्छादयति, परन्तु जीवात्मानं परमशिवस्वरूपाभेदज्ञानात् पूर्वम् आच्छादयत्येव ॥ २ ॥

तासां वर्गः समूहः स्यात्तच्छरीरं कलासु च।
अकारादिक्षपर्यन्ता कलास्ताः शब्दकारणम् ॥ २० ॥
मातरः शक्तयो देव्यो रश्मयश्च कलाः स्मृताः।
एताः शब्दानुवेधेन प्रत्ययोद्भासिकाः पशोः ॥ २१ ॥

बन्ध इत्यनुवर्तते, योऽयं योनेर्विश्वकारणस्य मायायाः संबन्धी वर्गः साक्षात् पारम्पर्येण च; तद्धेतुको देहभुवनाद्यारम्भी किञ्चित्कर्तृताद्यात्मक-कलादिक्षित्यन्तस्तत्त्वसमूहः; तद्रूपं मायीयम्, तथा कलयति स्वस्वरूपावेशेन तत्तद् वस्तु परिच्छिनत्तीति कला व्यापारः; शरीरं स्वरूपं यस्य तत् कला-शरीरं कार्मं मलमपि बन्ध इत्यर्थः। एतदपि--

'निजाशुद्ध्यासमर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिणः।'

इत्यनेनैव संगृहीतम्। यथा चैतत् तथा अस्मदीयात् स्पन्दनिर्णया-दवबोद्धव्यम्। एषां च कलादीनां किञ्चित्कर्तृत्वादिलक्षणं स्वरूपमाणवमल-भित्तिलग्नं पुंसामावरकतया मलत्वेन सिद्धमेव। यदुक्तं श्रीमत्स्वच्छन्दे--

'मलप्रध्वस्तचैतन्यं कलाविद्यासमाश्रितम्।
रागेण रञ्जितात्मानं कालेन कलितं तथा॥

कलेति कायमाविश्य परिच्छेदकरी नृणाम्।
व्यापृतिः पुण्यपापात्मा शरीरं यस्य तत्पुनः॥ १९॥
कार्मं च मलमेतस्मिन्द्वये बन्धोऽनुवर्तते।
ईश्वरप्रत्यभिज्ञायामुक्तमेतन्मलत्रयम् ॥ २०॥
'स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहारतः॥ २१॥

किमयं बन्धो मलात्मैव, न इति सूत्रयति—'योनिवर्गः कलाशरीरम्।' योनयो नाम शक्तयः ताश्च चतुर्विधाः, इमाः सर्वस्य विश्वस्य कारणम्, तासां नामानि अम्बा, ज्येष्ठा, रौद्री, वामा च। चतस्रोऽपि शिवमूर्त्तय एतासां वर्गः—समूहः स्यात्, समस्तासु कलासु एतच्छरीरम्। अकाराक्षरमारभ्य क्षकारपर्यन्तः वर्णसमूहः कलाः, ताः शब्द-कारणम्। अम्बादिदेव्यः शक्तिस्वरूपाः, कलाः तु रश्मिरूपाः, पशुस्वभावस्य जीवात्मनः एताः शब्दानुगमेन तत्तत्प्रत्ययस्य उद्भासिकाः भवन्ति। अनेन असौ जीवात्मा तासां

ज्ञानाधिष्ठानं मातृका ॥ ४ ॥

अकारादि-क्षकारान्तं मातृकारूपम्—

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन गम्यते ॥

तेनासौ भोग्यतां याति तासां, स्वविभवं यतः ।
तस्य लुप्तं तदुत्थेन ज्ञानाभासेन सर्वदा ॥ २२ ॥ ३ ॥

ज्ञानाभासस्य तासां च किमाधारो ह्यतोऽवदत् ।
ज्ञानस्यैव द्विरूपस्य परापरविभेदतः ॥ २३ ॥

नियत्या यमितं भूयः पुंभावेनोपबृंहितम् ।
प्रधानाशयसंपन्नं गुणत्रयसमन्वितम् ॥
बुद्धितत्त्वसमासीनमहङ्कारसमावृतम् ।
मनसा बुद्धिकर्माक्षैस्तन्मात्रैः स्थूलभूतकैः ॥'

इति । कार्ममलस्याप्यावरकत्वं श्रीमालिनीविजये प्रदर्शितम्—

'धर्माधर्मात्मकं कर्म सुखदुःखादिलक्षणम् ।'

इति । तदेतत् मायीयं कार्मं च मलम्—

'भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं जन्मभोगदम् ।
कर्तर्यबोधे कार्मं च.......... ॥'

इति श्रीप्रत्यभिज्ञायाम् आणवमलभित्तिकं संकुचितविशिष्टज्ञानतयैवोक्तम् ॥ ३ ॥

भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायीयं, जन्मभोगदम् ।
कर्तव्यबोधे कार्मं तु, मायाशक्त्यैव तत्त्रयम् ॥' २२ ॥

इत्यथैषां मलानां तु बन्धकत्वं निरूप्यते ।
अपूर्णम्मन्यतारूपं भिन्नवेद्यप्रथात्मकम् ॥ २३ ॥

कलानां भोग्यरूपतां प्राप्नोति, येन प्रत्ययेन असौ भोग्यरूपतामुपगतः तस्मादेव तस्य स्वाभाविकं स्वरूपं तज्जनितज्ञानाभासेन लुप्तं भवति ॥ ३ ॥

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती ।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥'

मातृकाधिष्ठानादेव हि अन्तरभेदानुसन्धिबन्ध्यत्वात् क्षणमपि अलब्धविश्रान्तीनि बहिर्मुखान्येव ज्ञानानि ॥ ४ ॥

स्यादधिष्ठानमाधारः शक्तिरेकैत्र मातृका ॥ ४ ॥

इत्थमात्रृतिरूपं यज्ज्ञानं तद्विनिवृत्तये ॥ २४ ॥

अथ कथमस्याज्ञानात्मकज्ञान-योनिवर्ग-कलाशरीररूपस्य त्रिविधस्य मलस्य बन्धकत्वमित्याह--

यदेतत् त्रिविधमलस्वरूपम् अपूर्णम्मन्यताभिन्नवेद्यप्रथा-शुभाशुभवासनात्मकं विविधं ज्ञानरूपमुक्तम्; तस्य आदिक्षान्तरूपा अज्ञाता माता मातृका विश्वजननी तत्तत्संकुचितवेद्याभासात्मनो ज्ञानस्य 'अपूर्णोऽस्मि' क्षामः स्थूलो वास्मि, अग्निष्टोमयाज्यस्मि, इत्यादितत्तदविकल्पकसविकल्पकावभासपरामर्शमयस्य तत्तद्वाचकशब्दानुवेधद्वारेण शोक-स्मय-हर्ष-रागादिरूपतामादधाना--

शुभाशुभात्मकाशेषकर्मसंस्कारविग्रहम् ।
त्रिविधं मलमुक्तं यत्तदेव ज्ञानमुच्यते ॥ २४ ॥
'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन गम्यते' ॥ २५ ॥
इत्युक्तनीत्या ज्ञानस्य विविधस्यास्य मातृका ।
अकारादिक्षकारान्तपञ्चाशद्वर्णविग्रहा ॥ २६ ॥
शिवादिक्षितिपर्यन्ततत्त्वग्रामप्रसूतिभूः ।
'करंध्रचितिमध्यस्था ब्रह्मपाशावलम्बिकाः ॥ २७ ॥

इदानीं मलानां बन्धकत्वं निरूपयति—'ज्ञानाधिष्ठानं मातृका ।' यत्र ज्ञानशब्देन—त्रिविधमलसंपृक्तं विभिन्नविषयप्रथनरूपं शुभाशुभकर्मजनितसंस्कारशरीरं यत्पूर्वं मलात्मना निरूपितं—तदेव ग्राह्यम् । यस्यैव ज्ञानस्य अधिष्ठानं मातृका ज्ञानाधारभूता शक्तिः विद्यते । सा च मातृका अकाराक्षरमारभ्य क्षकारवर्णपर्यन्तं पञ्चाशद्वर्णसमूहात्मिका विश्वजननी परवाक्शक्तिः । अनयैव मातृकया विविधवेद्यानां परिज्ञानं जायते । कस्यापि वेद्यविषयस्य शब्दव्यतिरेकेण बोधनं न भवति । यदाहुः वाक्यपदीये—

'करन्ध्रचितिमध्यस्था ब्रह्मपाशावलम्बिका: ।
पीठेश्वर्यो महाघोरा मोहयन्ति मुहुर्मुहुः ॥'

इति श्रीतिमिरोद्घाटप्रोक्तनीत्या वर्ग-कलाद्यधिष्ठातृब्राह्म्यादिशक्तिश्रेणीशोभिनी श्रीसर्ववीराद्यागमप्रसिद्धलिपिक्रमसंनिवेशोत्थापिका अम्बा-ज्येष्ठा-रौद्री-वामाख्यशक्तिचक्रचुम्बिता शक्तिरधिष्ठात्री, तदधिष्ठानादेव हि अन्तरऽभेदानुसंधिबन्ध्यत्वात् क्षणमपि अलब्धविश्रान्तीनि बहिर्मुखान्येव ज्ञानानि, इति युक्तैव एषां बन्धकत्वोक्तिः । एतच्च—

'शब्दराशिसमुत्थस्य ....।'

इति कारिकया,

'स्वरूपावरणे चास्य शक्तयः सततोत्थिताः ।'

इति च कारिकया संगृहीतम् ॥ ४ ॥

पीठेश्वर्यो महाघोरा मोहयन्ति मुहुर्मुहुः ।
इतिश्रीतिमिरोद्धाटप्रोक्तनीत्यनुसारतः ॥ २८ ॥
स्वरादिवर्गाधिष्ठातृमातृचक्रपरिष्कृता ।
अपूर्णोऽहमहं पूर्णोऽहं कृशोऽहं कृशेतरः ॥ २९ ॥
इति शब्दानुवेधेन शोकहर्षादिकारिका ।
अधिष्ठानमधिष्ठात्री, तदधिष्ठानतो नृणाम् ॥ ३० ॥
अलब्धान्तर्मुखस्वात्मविश्रान्तीनि निरन्तरम् ।
बहिर्मुखानि ज्ञानानि कथ्यन्ते बन्धहेतवः ॥ ३१ ॥ ४ ॥

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन गम्यते ॥
वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती ।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥
सैषा संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते ।
यदुत्क्रान्तो विसंज्ञोऽयं दृश्यते काष्टकुण्डयवत् ॥'

शिवादिक्षितिपर्यन्तो यो हि तत्त्वसमुदायो वर्तते, तस्य जन्मभूमिरपि इयमेव अस्ति । ब्रह्मपाशमवलम्ब्य शिरसि चित्यां च मध्ये स्थिता महाघोरा इयं विश्वजननी मातृका पशुरूपान् जीवान् वारम्बारं मोहयति । अत एव जीवात्मा अपूर्णोऽहं, पूर्णोऽहं, कृशोऽहं, स्थूलोऽहम् इत्यादिशब्दैः सा मातृका शोक-स्मय-हर्ष-रागादिकं सूचयति । इत्थं जगज्जननी मातृका शक्तिरेव ज्ञानस्य अधिष्ठानम् अर्थात् अधिष्ठात्री विद्यते । नृणां तदधिष्ठानवशेन अविरतं बहिर्मुखान्येव ज्ञानानि बन्धहेतुभूतानि जायन्ते । फलतः नरः अन्तर्मुखवृत्तयो न भवन्ति ॥ ४ ॥

उद्यमो भैरवः ॥ ५ ॥

विमर्शमय्याः संविदो नवनवस्वरूपप्रथनरूपः उद्यमः, भैरवात्मकस्वस्वरूपाभिव्यक्तिहेतुः ॥ ५ ॥

व्यक्तये स्वस्वरूपस्य सूत्रमीशोऽभ्यभाषत ।
परिपूर्णस्वरूपस्य शिवस्येत्थं चिदात्मनः ॥ २५ ॥
स्वस्वरूपापरित्यागं कार्यं प्रत्युद्बुभूषतः ।
भाव उद्योग उन्मेष उद्यमः परिभाष्यते ॥ २६ ॥

अथ एतद्बन्धप्रशमोपायमुपेयविश्रान्तिसतत्त्वमादिशति—

योऽयं प्रसरद्रूपाया विमर्शमय्याः संविदो झगिति उच्छलनात्मकपरप्रतिभोन्मज्जनरूप उद्यमः स एव सर्वशक्तिसामरस्येन अशेषविश्वभरितत्वात् सकलकल्पनाकुलालंकवलनमयत्वाच्च भैरवो भैरवात्मकस्वस्वरूपाभिव्यक्तिहेतुत्वात् भक्तिभाजाम् अन्तर्मुखैतत्तत्त्वावधानधनानां जायते, इत्युपदिष्टं भवति । उक्तं च श्रीमालिनीविजये—

'अकिंचिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः ।
जायते यः समावेशः शाम्भवोऽसावुदीरितः ॥'

अथेदृग्बन्धसंबन्धप्रशमोपाय उच्यते ।
परमोपेयविश्रान्तिसतत्त्वः परमेष्ठिना ॥ ३२ ॥
योऽयं विमर्शरूपायाः प्रसरन्त्याः स्वसंविदः ।
झटित्युच्छलनाकारप्रतिभोन्मज्जनात्मकः ॥ ३३ ॥

सम्प्रति बन्धसम्बन्धस्य येन उपायेन प्रशमनं भवति, स उपायो निर्दिश्यते— 'उद्यमो भैरवः ।' प्रसरणशीलायाः विमर्शात्मिकायाः स्वसंविदो झटिति उच्छलनाकारप्रतिभोन्मज्जनरूप योऽसौ पूर्णत्वेन अहंभावात्मकोऽन्तःपरिस्पन्दः, स एव उद्यमशब्देन गृह्यते । यदाहुराचार्याभिनवगुप्तपादाः मालिनीविजयोत्तरतन्त्रे—

'अकिञ्चिच्चिन्तकस्येति विकल्पानुपयोगिता ।
तथा च झटिति ज्ञेयसमापत्तिर्निरूप्यते ॥
स कथं भवतीत्याह गुरुणातिगरीयसा ।
ज्ञेयाभिमुखबोधेन द्राक्प्ररूढत्वशालिना ॥

तदेव जगदाख्यातं शार्वं तत्त्वं च भैरवम् ।
तत्रापि स्वपरिस्पन्दस्फुरत्तायां स भैरवः ॥ २७ ॥
भरणाद्रमणादत्र वमनादपि चोच्यते ।
अखण्डितनिजाभासप्रथनादपि चिद्विभोः ॥ २८ ॥ ५ ॥

इति । अत्र हि 'गुरुणा प्रतिबोधतः' इत्यत्र गुरुतः स्वस्मात् प्रतिबोधतः इत्यस्यार्थो गुरुभिरादिष्टः । श्रीस्वच्छन्देऽपि उक्तम्—

'आत्मनो भैरवं रूपं भावयेद्यस्तु पूरुषः ।
तस्य मन्त्राः प्रसिद्ध्यन्ति नित्ययुक्तस्य सुन्दरि ॥'

इति । भावनं हि अत्र अन्तर्मुखोद्यन्तृतापदविमर्शनमेव । एतच्च—

'एकचिन्ताप्रसक्तस्य यतः स्यादपरोदयः ।
उन्मेषः स तु विज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत् ॥'

इत्यनेन संगृहीतम् ॥ ५ ॥

उद्यमोऽन्तः परिस्पन्दः पूर्णाहम्भावनात्मकः ।
स एव सर्वशक्तीनां सामरस्यादशेषतः ॥ ३४ ॥
विश्वतो भरितत्वेन विकल्पानां विभेदिनाम् ।
अलं कवलनेनापीत्यन्वर्थादिव भैरवः ॥ ३५ ॥ ५ ॥

तृतीयार्थे तसि व्याख्या वा वैयधिकरण्यतः ।
आवेशश्चास्वतन्त्रस्य स्वतद्रूपनिमज्जनात् ॥
परतद्रूपता शम्भोराद्या शक्त्यविभागिनः ।
तेनायमत्र वाक्यार्थो, विज्ञेयं प्रोन्मिषत्स्वयम् ॥
न विना निश्चयेन द्राङ् मातृदर्पणबिम्बितम् ।
मातारमधरीकुर्वन् स्वां विभूतिं प्रदर्शयन् ॥
आस्ते हृदयनैर्मल्यातिशये तारतम्यतः ।' (२ अधि० २३-२८)

विभेदिनां सर्वशक्तीनां सामरस्येन भरणादयम् उद्यमो भैरव उच्यते । अत्रायं निष्कर्ष—अहं परिपूर्णशिवस्वरूप इति तैलधारावदनवच्छिन्नभावनया सर्वेषां भेदानां कवलनेन तादृग् भावनाप्रयोजकोद्यमस्य भैरवत्वस्थापनं शैवागमाचार्याणां युक्तमेव, अपि च 'आयुर्वै घृतम्' इत्यादि श्रुतौ घृतस्य आयुष्ट्वं साक्षान्नैव भवति, परन्तु घृतपानद्वारा घृतस्य आयुषो वर्धकत्वेन तत्र आयुष्ट्वमौपचारिकमेवमेव उद्यमस्य भैरवस्वरूपावभासहेतुतया उद्यम एव भैरवो भवति । भरणात्, रमणात् वमनाच्च भैरवः, भीरूणाम् अभयरूपः,

शक्तिचक्रसंधाने विश्वसंहारः ॥ ६ ॥

शक्तिचक्रं—

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं·········।'

इति । तस्य अनुसंधाने अन्तर्विमर्शने सति विश्वसंहारः परसंविदग्निसाद्भावः ॥ ६ ॥

एवमुद्यमिनश्चास्य चिद्वपुर्भैरवात्मनः ।
उन्मेषेऽपि स्वस्वरूपप्रकाशो न प्रहीयते ॥ २९ ॥

एवं झगिति परप्रतिभोन्मेषावष्टम्भोपायिकां भैरवसमापत्तिम् अज्ञानबन्धप्रशमैकहेतुं प्रदर्श्य; एतत्परामार्शप्रकर्षाद् व्युत्थानमपि प्रशान्तभेदावभासं भवतीत्याह––

योऽयं परप्रतिभोन्मज्जनात्मोद्यन्तृतास्वभावो भैरव उक्तः अस्यैव अन्तर्लक्ष्यबहिर्दृष्ट्यात्मतया निःशेषशक्तिचक्रक्रमाक्रामिणो अतिकान्तक्रमाक्रमातिरिक्तारिक्ततदुभयात्मतयापि अभिधीयमानापि अनेतद्रूपा अनुत्तरा परा

अथेदृग्भैरवापत्तेर्बन्धप्रशमकारणात् ।
व्युत्थानं च भवेच्छान्तभेदाभासमितीर्यते ॥ ३६ ॥
योऽयमुक्तः स्वसंवित्तेरुद्यमो भैरवात्मकः ।
अस्यास्ति महती शक्तिरतिक्रान्तक्रमाक्रमा ॥ ३७ ॥

अनया व्युत्पत्त्या संसारिणामभयदः । भीर्भयं संसारत्रासः अनेन त्रासेन उत्पन्नो रव अर्थात् आक्रन्दः भीरवः अनेन भीरवेन जातः तदाक्रन्दवतां प्रस्फुरितः अस्यैव भीरवस्य संसारभयस्य अयम् उद्यमो भैरवरूपः शक्तिपातवशेन विनाशको भवति । अन्यच्च भानि-नक्षत्राणि ईरयतीति भीरः—कालः, तं वायन्तीतिभी रवाः कालग्रासससमाधिरसिका योगिनस्तेषामयमान्तरः स्वभावः । भिये पशुजनत्रासाय रवः शब्दराशिसमुत्थाकाशदिकलाविमर्शो यासां खेचर्यादिसंविद्देवीनां वा भीरवः तासामयं स्वामी ईश्वरो भैरवः । तथा भैरवो भीषणः संसारवृत्तविघटनपर एवमागमशास्त्रेषु श्रीबृहस्पतिचरणैः निरुक्तिर्विहिता ॥ ५ ॥

एवं पूर्वसूत्रेण उद्यमात्मकभैरवसमापत्तिः अज्ञानबन्धशान्तिहेतुः प्रदर्श्य; एतत्परामर्शप्रकर्षात्—परप्रतिभाभ्यासदाढर्याद् व्युत्थानदशायामपि प्रशान्तभेदावभासो भवतीति

इत्युक्त्वापि निमेषस्य यथा न परिहीयते ।
स्वस्थितिस्तत्प्रसिद्ध्यर्थं सूत्रमाह महेश्वरः ।। ३० ।।
शक्तयश्च जगत्कृत्स्नं ताश्च ज्ञानक्रियात्मिकाः ।
वृत्तयः पूर्वनिर्दिष्टास्तच्चक्रं चक्रनादतः ।। ३१ ।।
तत्संधानं स्वीकरणं स्वात्मन्येव निमेषतः ।
संहारः प्रविलीनत्वं शिवत्वं तेन तस्य तत् ।। ३२ ।।

स्वातन्त्र्यशक्तिः काप्यस्ति । यया स्वभित्तौ मह्युल्लासात् प्रभृति परप्रमातृविश्रान्त्यन्तं श्रीमत्सृष्ट्यादिशक्तिचक्रस्फारणात्मा क्रोडेयमादर्शिता । तस्यैतदाभासितस्य शक्तिचक्रस्य रहस्याम्नायाम्नातनीत्या यत्संधानं यथोचितक्रमविमर्शनं तस्मिन् सति; कालाग्न्यादेश्चरमकलान्तस्य विश्वस्य संहारो; देहात्मतया बाह्यतया च अवस्थितस्यापि सतः परसंविदग्निसाद्भावो भवतीत्यर्थः । उक्तं च श्रीभर्गशिखायाम्—

'मृत्युं च कालं च कलाकलापं
विकारजालं प्रतिपत्तिसात्म्यम् ।
ऐकात्म्यनानात्म्यविकल्पजातं
तदा स सर्वं कवलीकरोति ।।'

निःशेषनिजचिच्छक्तिचक्राक्रमणलम्पटा ।
रिक्तारिक्तोभयाकाराप्यनेतद्रूपिणी परा ।। ३८ ।।
ययैव स्वात्मचिद्भित्तौ प्रमेयोल्लासनादितः ।
परप्रमातृविश्रान्तिपर्यन्तस्पन्दरूपया ।। ३९ ।।
सृष्टिस्थितिलयानाख्याभासाशक्तिप्रसारणात् ।
प्रपञ्चविषयं चञ्चत्पञ्चकृत्यं प्रपञ्चितम् ।। ४० ।।

निरूपयति—'शक्तिचक्रसन्धाने विश्वसंहारः ।' पूर्वोक्तसूत्रेण भैरवात्मकोद्यमस्य महती शक्तिः वर्तते । सा च शक्तिः अतिक्रान्तक्रमाक्रमरूपा विद्यते । क्रमस्तु सृष्टिस्थितिविलयानामाभासविच्छेदनस्वभावः, अक्रमः युगपत्तेषामभासः । यदुक्तं ज्ञानगर्भे—

'क्रमत्रयसमाश्रयव्यतिकरेण या संततं क्रमत्रितयलङ्घनं विदधती विभात्युच्चकैः ।
क्रमैकवपुरक्रमप्रकृतिरेव या शोभते करोमि हृदि तामहं भगवतीं परां संविदम् ।।'

एवं शब्दार्थरूपादेर्ज्ञानस्योन्मेषसंभृतौ ।
कारणं परमात्मैव भैरवः स शिवस्तदा ॥ ३३ ॥ ६ ॥

इति । श्रीमद्वीरावलावपि--

'यत्र सर्वे लयं यान्ति दह्यन्ते तत्त्वसंचयाः ।
तां चितिं पश्य कायस्थां कालानलसमत्विषम् ॥'

इति श्रीमन्मालिनीविजयेऽपि--

'उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन् ।
यं समावेशमाप्नोति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते ॥'

इत्युक्त्या एतदेव भङ्ग्या निरूपितम् ।

एतच्च सद्गुरुचरणोपासनया अभिव्यक्तिमायातीति नाधिकमुन्मीलितम् । एतदेव--

'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां........ ।'

इति,

'यदा त्वेकत्र संरूढः......... ।'

इति च प्रथमचरमश्लोकाभ्यां संगृहीतम् ॥ ६ ॥

तया प्रसारितस्यास्य शक्तिचक्रस्य यत्पुनः ।
सन्धानमान्तराम्नायाम्नातक्रमविमर्शनम् ॥ ४१ ॥
तस्मिन्सत्यस्य विश्वस्य कालाग्न्यादिकलावधेः ।
संहारः स्यात्स्वसंवित्तिवह्निसद्भावलक्षणः ॥ ४२ ॥ ६ ॥

अनया शक्त्या चित्रविचित्रप्रमेयग्रामस्य चित्रणं भवति । समस्तं जगच्छक्तिचक्रात्मकं शक्तयश्च ज्ञानक्रियारूपाः, तादृच्छशक्तीनां सन्धानं—स्वीकरणं यदि आत्मस्वरूपः स्यात्तदा तु निमेषमात्रेण कृत्स्नं जगत् संहृतमेव भवति । अस्यां स्थितौ जगतः प्रविलीनत्वमेव शिवस्वरूपेण प्रस्फुरति । एवं च शब्दार्थप्रभृतीनां कारणं परमात्मैव विद्यते, स एव भैरवः स एव शिवः । अत्रायं निष्कर्षः—ज्ञानक्रियात्मकस्य विश्वस्य प्रकाशविमर्शरूपपरमेश्वरात् अभेदात्मना विमर्शने संवित्प्रकाशात्मकशिवाग्निसाद्भावात्मा विलयो भवति, एवं कारणे कार्यस्याभेदेन अवस्थितस्य निमेषदशायामपि स्वस्वरूपावस्थितिर्नैव आव्रियते ॥ ६ ॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तभेदे तुर्याभोगसंभवः ॥ ७ ॥

भेदे नानारूपे पृथक्त्वावभासे, स्फुरत्तात्मनः तुर्यस्य आभोगः चमत्कारः, तस्य संभवो नित्यं प्रोक्तयोगयुक्तस्य भवति ॥ ७ ॥

स्वस्वरूपपरिस्पन्दादच्युतस्य चिदात्मनः ।
जाग्रदादिविभेदोऽयं स्यादनावरको यथा ॥ ३४ ॥
तदर्थमिह देवेशः सूत्रमाह यथार्थवत् ।
स्वस्वरूपैकघनताविमर्शस्तुर्यभूः स्मृता ॥ ३५ ॥

एवमुपसंहृतविश्वस्य न समाधिव्युत्थानभेदः कोऽपि इत्याह—

समनन्तरनिरूपयिष्यमाणानां जाग्रत्स्वप्नसुषुप्नां भेदे नानारूपे पृथक्त्वावभासे 'उद्यमो भैरवः' (१–५) इति लक्षितस्य स्फुरत्तात्मनः सर्वदशानुस्यूतस्य तुर्यस्य य आभोगश्चमत्कारः तस्य संभवो नित्यमेव तुर्यचमत्कारमयत्वं प्रोक्तमहायोगयुक्तस्य भवतीत्यर्थः । केचित् संभव इत्यत्र संविदिति स्पष्टार्थं पठन्ति । एतच्च—

'यथेन्दुः पुष्पसंकाशः समन्तादवभासते ।
आह्लादनसमूहेन जगदाह्लादयेत्क्षणात् ॥
तद्वद्देवि महायोगी यदा पर्यटते महीम् ।
ज्ञानेन्दुकिरणैः सर्वैर्जगच्चित्रं समस्तकम् ॥
आह्लादयेत्समन्तात्तदवीच्यादिशिवान्तकम् ।'

एवं स्वसंवित्कालाग्निप्लुष्टभेदस्य योगिनः ।
न स्यात्समाधिव्युत्थानभेदः कोऽपीति कथ्यते ॥ ४३ ॥
उद्यमो भैरव इति प्रोक्तरूपं स्फुरद्वपुः ।
तुर्यं नाम परं धाम तदाभोगश्चमत्क्रिया ॥ ४४ ॥

यस्मिन्काले चित्तस्वरूपस्य अच्युतस्य स्वस्वरूपपरिस्पन्दं भवति, तदा जाग्रदादिभेदः तस्य आवरणे समर्थो येन न भवति, तं दर्शयितुमाह—'जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तभेदे तुर्याभोगसंभवः ।' समनन्तरसूत्रैः निरूपयिष्माणानां जाग्रद्यावस्थानां भेदे अर्थात् पृथग्रूपेण अवभासेऽपि भैरवात्मकोद्यमशब्देन पूर्वं लक्षितस्य स्मरणस्वभावात्मनः सर्वासु दशासु अनुस्यूत-

ज्ञानं जाग्रत् ॥ ८ ॥

सर्वसाधारणार्थविषयं बाह्येन्द्रियजं ज्ञानम् ॥ ८ ॥

सर्वानुस्यूतरूपत्वाद्‌ गलितभ्रमसंस्थितेः ।
तुर्याभोगाख्यसंवित्सा ह्युपलब्धृस्वरूपता ॥ ३६ ॥
स्थितैव जाग्रदादीनां भेदे सर्पत्यपि स्फुटम् ॥ ७ ॥

एवमुक्त्वा जाग्रदादिव्यक्तये परमेश्वरः ॥ ३७ ॥
सूत्रत्रयमन्ववदज्जीवन्मुक्तत्वसिद्धये ।
बौद्धं गार्वं च साकल्पं शाब्दं स्पार्शं च रूपजम् ॥ ३८ ॥

इत्यादिना श्रीचन्द्रज्ञाने जागरादौ तुर्याभोगमयत्वं महायोगिनो दर्शितम् । स्पन्दे तु—

'जागरादिविभेदेऽपि·········।'

इति कारिकया संगृहीतम् ॥ ७ ।

एतज्जाग्रदादित्रयं सूत्रत्रयेण लक्षयति—

सर्वसाधारणार्थविषयं बाह्येन्द्रियजं ज्ञानं लोकस्य जाग्रत् जागरावस्था । ये तु मनोमात्रजन्या असाधारणार्थविषया विकल्पाः स एव स्वप्नः

भेदेऽपि जाग्रदादीनां योगिनस्तस्य संभवः ।
अनुस्यूतिः परानन्दरूपा स्यादिति शिष्यते ॥ ४५ ॥ ७ ॥

जाग्रदादित्रयं सूत्रत्रयेण लक्ष्यते क्रमात् ।
ज्ञानं बाह्याक्षजं जाग्रत् सर्वसाधारणार्थकम् ॥ ४६ ॥

तया स्थितस्य तुर्यस्य यः चमत्काररूप आभोगो वर्तते, स तु महायोगयुक्तस्य योगिनः सर्वदैव भवति । एतेन महायोगिनो जाग्रद्यावस्थासु तुर्याभोगमयत्वं पराऽऽनन्दानुभूतिरूपत्वं दर्शितं भवति ॥ ७ ॥

इदानीं जाग्रत्स्वरूपमाह—'ज्ञानं जाग्रत् ।' चक्षुरादिभिरिन्द्रियैः जायमानं रूपादिविषयकं ज्ञानं जाग्रच्छब्दवाच्यम् । यदुक्तम्—'अक्षैर्योऽर्थग्रहः पुंसां तज्जाग्रदिति

स्वप्नो विकल्पाः ॥ ६ ॥

मनोमात्रजन्या असाधारणार्थविषया विकल्पाः स्वप्नः ॥ ९ ॥

रसजं गन्धजं चान्यदैन्द्रियज्ञानमेव यत् ।
अत्र गृहीतृग्रहणग्राह्यरूपा चिदात्मनः । ३९ ॥
स्फुरत्येव ज्ञानशक्तिर्जाग्रद्वृत्तिरिहैव सा ।
पशो स्वरूपहान्यैव सा वृत्तिः परिभाष्यते ॥ ४० ॥

स्वप्नावस्था; तस्य एवं-विधविकल्पप्रधानत्वात् । यस्तु अविवेको विवेचनाभावोऽख्यातिः; एतदेव मायारूपं मोहमयं सौषप्तम् । सौषुप्तं लक्षतया प्रसङ्गात् उच्छेद्याया मायाया अपि स्वरूपमुक्तम् ।

स्वप्नः स्वात्मैव संप्रोक्तो विकल्पाः स्वात्मसंभवाः ।
अविवेको निजाख्यातिर्माया मोहस्तदात्मकः ॥ ४७ ॥
सौषुप्तं, योगिनामेतत्त्रितयं धारणादिकम् ।
ईश्वरप्रत्यभिज्ञायां जागराद्यपि लक्षितम् ॥ ४८ ॥
'शून्ये बुद्ध्याद्यभावात्मन्यहन्ताकर्तृतापदे ।
अस्फुटारूपसंस्कारमात्रिणि ज्ञेयशून्यता ॥ ४९ ॥

कथ्यते ।' तथा च पञ्चदश्याः तत्त्वविवेकप्रकरणे—'इन्द्रियैरर्थोपलब्धिज ारितम् ।' इति लक्षणं कृतम् । यस्यां दशायां तत्तदिन्द्रियजन्यव्यापारो जीवात्मा संपादयति, सैव अवस्था जाग्रदुच्यते । तथा चाह प्रत्यभिज्ञायां—

सर्वाक्षगोचरत्वेन या तु बाह्यतया स्थिरा ।
सृष्टिः साधारणी सर्वप्रमातॄणां स जागरः ॥ ३-२-१७ ॥

जीवात्मनः पारमार्थिकं स्वरूपं परमशिवात्मकम् अस्ति, किन्तु जाग्रद्वृत्तिभिः तस्य वास्तविकं स्वरूपमपहृतं भवति । अत एव जाग्रत्कालीनवृत्तीनाम् आचार्यैः स्वरूपहानिकारकत्वं प्रोच्यते । अयं भावः—निश्चयनाभिमानन-सङ्कल्पन-शब्दन-स्पर्शनं-रसनं-गन्धोपादानरूपं बाह्यचक्षुरिन्द्रियजन्यं ज्ञानं, प्रमातृद्युपहिता जाग्रत्कालीनवृत्ति. प्राणिनां स्वस्वरूपाच्छादिका भवति, परन्तु पतीनां कृते स्वात्मस्फुर्तिप्रदायिनी वर्तते ॥ ८ ॥

दृष्टिस्वभावस्य विभोरन्तर्नवनवोदयः ।
विकल्पानां स्मृतः स्वप्नस्तद्बाह्यार्थनिरासतः ॥ ४१ ॥
पतिभावाद्विकल्पानां दृढतादृढता पुनः ।
पशुत्वादावृतिः सैव ज्ञेया शक्त्यात्मनः प्रभोः ॥ ४२ ॥

इत्थमपि च ईदृशेनाप्यनेन लक्षणेन तिसृष्वपि जागरादिदशासु त्रैरूप्यमस्तीति दर्शितम् । तथा चात्र यद्यत् स्वप्नदशोचितं प्रथममविकल्पकं ज्ञानं सा जागरा । ये तु तत्र विकल्पाः स स्वप्नः । तत्त्वाविवेचनं सौषुप्तम् । सौषुप्ते यद्यपि विकल्पा न संचेत्यन्ते; तथापि तत्प्रविविक्षायां तथोचित-जाग्रज्ज्ञानमिव तदनन्तरं संस्कारकल्पविकल्परूपस्तदुचितः स्वप्नोऽप्यस्त्येव ।

साक्षाणामान्तरी वृत्तिः प्राणादिप्रेरिका मता ।
जीवनाख्याथवा प्राणेऽहन्ता पुर्यष्टकात्मिका ॥ ५० ॥
तावन्मात्रस्थितौ प्रोक्तं सौषुप्तं प्रलयोपमम् ।
सवेद्यमपवेद्यं च मायामलयुतायुतम् ॥ ५१ ॥
मनोमात्रपथेऽप्यक्षविषयत्वेन विभ्रमात् ।
स्पष्टावभासा भवानां सृष्टिः स्वप्नपद मतम् ॥ ५२ ॥

साम्प्रतं स्वप्नावस्थायाः स्वरूपं निरूपयति—'स्वप्नो विकल्पा ।' यस्यामवस्थायां केवलं मनसा संस्कारदार्ढ्यबलादेव असाधारणार्थविषयाः नानाविकल्पाः सा स्वप्नावस्था वर्तते । यदुक्तं—

'यत्तैर्विनार्थस्मरणं मनसा स्वप्नसंज्ञितम् ।'

तथा च पञ्चदश्याः तत्त्वविवेकप्रकरणे स्वप्नस्य स्वरूपं विवेचितं—'करणेषूपसंहृतेषु जागरितसंस्कारज प्रत्ययः सविषयः स्वप्नः ।'

यस्यां स्वप्नदशायां विविधविकल्पानां प्राधान्यं तिष्ठति । यथोक्तम् ईश्वरप्रत्य-भिज्ञायाम्—

'मनोमात्रपथेऽप्यक्षविषयत्वेन विभ्रमात् ।
स्पष्टावभासा भावानां सृष्टिः स्वप्नपदं मतम् ॥' ३-२-१७ ॥

अत एव बाह्यार्थवस्तुनामभावदशायां तद्वृत्युपशमे बाह्यविषयानपेक्षमन्तर्विसृत्व-राणां गिरिवृक्षपुरप्रभृतीनां नदीसरःसागरादीनाम् उल्लेखवैचित्र्येण अवभासमानानां स्वार्थक्रियाकारिणां विविधकल्पनां नवनवोदयः स्वप्नपदः प्राणिनः स्वरूपमाव्रियते ॥ ९ ॥

अविवेको मायासौषुप्तम् ॥ १० ॥

विवेचनाभावः अख्यातिः, एतदेव मायामयं सौषुप्तम् ॥ १० ॥

ज्ञानज्ञेयस्वरूपायाः शक्तेरनुदयो यदा ।
चिद्रूपस्याविवेकः स्यादसावेवाविमर्शतः ॥ ४३ ॥
सैव मायावृतिजालपोषकत्वात्प्रकीर्तिता ।
अर्थस्मृतो स्वात्मसंस्थे चिद्रूपे सा सुषुप्तता ॥ ४४ ॥
पत्युरेवं स्वविश्रान्त्या पशोरावृतिरूपतः ।
इत्थं तिस्त्रस्त्रिप्रकाराः प्रत्येकान्योन्ययोगतः ॥ ४५ ॥
मुख्यगौणत्वभेदेन ज्ञेयाः सम्यक् चिदात्मनः ।
एवं ज्ञानज्ञेयमयः पतिरत्र पदद्वये ॥ ४६ ॥
सुषुप्ततुर्ये त्वन्यस्मिंश्चिन्मयश्च विभुः स्मृतः ॥ ८-१० ॥

किं च योग्यभिप्रायेण प्रथमं तत्तद्धारणारूपं ज्ञानं जाग्रत्, ततः तत्प्रत्ययप्रवाहरूपा विकल्पाः स्वप्नः, ग्राह्यग्राहकभेदासंचेतनरूपश्च समाधिः सौषुप्तम्, इत्यप्यनया वचोयुक्त्या दर्शितम् । अत एव श्रीपूर्वशास्त्रे जागरादीनां परस्परानुवेधकृतो योग्यभिप्रायेणापि——

'.........अबुद्धं बुद्धमेव च ।
प्रबुद्धं सुप्रबुद्धं च.........॥'

इत्यादिना भेदो निरूपितः ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

सर्वाक्षगोचरत्वेन या तु बाह्यतया स्थिरा ।
सृष्टिः साधारणी सर्वप्रमातॄणां स जागरः' ॥ ५३ ॥

इदानीं सुषुप्तिदशायाः स्वरूपं निरूपयति—'अविवेको मायासौषुप्तम् ।' यस्यामवस्थायां कस्यचिदपि विशेषस्य विवेचनं न भवति । यतो त्य विवेकद्वारा तत्स्वरूपपरिचयो न भवति । एतदेव मायारूपं मोहात्मकं सौषुप्तं ज्ञेयम् । यदुक्तं—'यत्रार्थस्मरणे न स्तस्सत्सौषुप्तमुदाहृतम् ।'

सुषुप्तिदशां लक्षतया सूत्रकारेण प्रसङ्गेन उच्छेद्यायाः मायायाः स्वरूपमपि 'मोहमयं' शब्देन सूचितम् । लक्षणद्वारा जाग्रदाद्यवस्थासु त्रैविध्यम् अस्तीति ज्ञानं भवति । जाग्रति ज्ञानं विकल्पात्मकमस्ति, स्वप्ने तु नानाविधा विकल्पा जायन्ते । किन्तु सुषुप्तिदशायां तत्त्वानां विवेचनं कदापि नैव भवति, सत्यपि एतेषां नानाविधत्वे व्युत्थानावस्थायां महायोगिनो लेशतोऽपि स्वस्वरूपात्प्रच्युतिर्नैव भवतीति महान् चमत्कारः प्रदर्शितः ॥ १० ॥

त्रितयभोक्ता वीरेशः ॥ ११ ॥

जाग्रदादित्रयस्य स्वातन्त्र्येण चमत्कर्ता ॥ ११ ॥

अथासामेव तिसृणामवस्थानां गुणत्रयम् । ४७ ॥
स्थितमेवानुषङ्गेण तदर्थं सूत्रमुक्तवान् ।
सत्त्वं रजस्तमश्चेति त्रितयं गुणसंज्ञितम् ॥ ४८ ॥
अवस्थानुगुणं तद्धि स्वस्वरूपादुदेत्यलम् ।
आच्छादकं पशूनां तत्स्वस्थितेस्तु विभोः पुनः ॥ ४९ ॥

एवं लोकयोग्यनुसारेण व्याख्याते जागरादित्रये शक्तिचक्रसंधानाद्विश्वसंहारेण यस्य तुर्यभोगमयत्वमभेदव्याप्त्यात्मकं स्फुरति; स तद्द्वाराधिरोहेण तुर्यातीतं पूर्वोक्तं चैतन्यमाविशन्--

एतज्जागरादित्रयं शक्तिचक्रानुसंधानयुक्त्या तुर्यानन्दाच्छुरितं यः तत्परामर्शानुप्रवेशप्रकर्षाद्विगलितभेदसंस्कारमानन्दरसप्रवाहमयमेव पश्यति; स त्रितयस्यास्य भोक्ता चमत्कर्ता । तत एव--

इति विस्तरतः प्रोक्ते लोकयोग्यनुसारतः ।
जागरादित्रयेऽमुष्मिन्नवधानेन जाग्रतः ॥ ५४ ॥
शक्तिचक्रानुसन्धानाद्विश्वसंहारकारणात् ।
तुर्यभोगमयाभेदख्यातिरख्यातिहारिणी ॥ ५५ ॥

जाग्रदाद्यवस्थानां प्राक्तनसूत्रत्रयेण लोकानुसारं व्याख्यानं विहितम् । साम्प्रतं यस्य योगिनोऽवस्थात्रये शक्तिचक्रानुसन्धानाद्विश्वस्य संहारो जातः तस्य न व्युत्थानेऽपि जागरादयः प्रतिबन्धका भवन्ति, एतदेव दर्शयति— 'त्रितयभोक्ता वीरेशः ।' सत्त्वादिगुणप्रकर्षेण जायमानानां जाग्रदाद्यवस्थानां भोक्ता यो हि वर्तते स वीरेशः । अयं भावः—शक्तिचक्रानुसन्धानेन तुर्यावस्थायामनुभूताखण्डानन्दात्तदवस्थात्रयं योगी तादृशानुसन्धानेन समस्तभेदशून्यम् आनन्दरसप्रवाहमेव पश्यति । अत एव जाग्रदादिदशात्रयस्य अयं भोक्ता अर्थात् चमत्कर्ता वर्तते । यदुक्तं—

'त्रिषु धामसु यद् भोग्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः ।
वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते ॥'

सर्वानुस्यूतरूपत्वात्स्वरूपाच्छादनं न तत् ।
इत्थमेवं गुणस्पन्दनिःष्यन्दानां च चिद्वपुः ॥ ५० ॥
भोक्ता स्वीकरणात्प्रोक्तः प्रसरस्य विभुत्वतः ।
अत एव हि वीरेशः स्वप्रकाशैकवृत्तितः ॥ ५१ ॥

'त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः ।
वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते ॥'

इति नीत्या निःसपत्नस्वात्मसाम्राज्योऽयं परमानन्दपरिपूर्णो भवभेदग्रसनप्रवणानां वीराणामिन्द्रियाणामीश्वरः स्वामी श्रीमन्थानभैरवसत्तानुविष्टो महाम्नायेषूच्यते । यस्तु एवं-विधो न भवति; स जागराद्यवस्थाभिर्भुज्यमानो लौकिकः पशुरेव । योग्यपि इमां धारामनधिरूढो न वीरेश्वर; अपि तु मूढ एवेत्युक्तं भवति । एतच्च—

स्फुरत्यविरतं यस्य स तद्धाराधिरोहतः ।
तुर्यातीतमयं योगी प्रोक्तचैतन्यमामृशन् ॥ ५६ ॥
जागरादित्रयं प्रोक्तशक्तिचक्रानुसन्धितः ।
तुर्यानन्दरसासाराच्छुरितं भेदवर्जनात् ॥ ५७ ॥
आनन्दरसनिर्मग्नं परमं व्योम भावयन् ।
त्रितयस्यास्य यो भोक्ता चमत्कर्ता स योगिराट् ॥ ५८ ॥

अर्थात् त्रिषु धामसु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिदशासु यो ग्राह्यग्राहकयुगलं परामर्शं करोति, स योगी भोगनिरतोऽपि सलिलस्थितपद्मपत्रमिव कर्मभिर्न लिप्यते ।

वीरेशो नाम इन्द्रियाणामीश्वरः—स्वामी; वीरशब्देन प्रकृते इन्द्रियाणां ग्रहणं, तेषामत्यन्तं बलत्त्वेन वीरशब्दवाच्यत्वेन कथनं प्रकृताचार्याणां युक्तमेव । अत एव अन्यत्र उक्तं—'बलवान् इन्द्रियग्रामः' ।

यदि कश्चन योगी जाग्रदादिभिः भुज्यमानो लौकिकवत् स्यात्तर्हि असौ न वीरेश्वरो भवितुमर्हति, अपि तु अयं जनो मूढ एव । यदाहुः—

'विना स्वभावानुभवेन पुंसः कैवल्यमुत्क्रान्तिबलाद्यदि स्यात् ।
अत्रापि पक्षे ननु मोक्षभावस्स उद्बन्धनं यत्कुरुते प्रमूढः ॥'

तथा

'विदेहा अपि बध्यन्ते प्रलये गुणवासिताः ।
शरीरिणोऽपि मुच्यन्ते विशुद्धज्ञानसंश्रयात् ॥'

एवं मरीचिनिचयो गुणत्रयसमुद्भवः ।
वैकल्पिके जगत्यस्मिन्वमनग्रासतत्परः ॥ ५२ ॥
तत्रापि ग्रासकृद्यस्मात्तेन वीरेश्वरः स्मृतः ॥ ११ ॥

एवं स्वस्य स्वभावस्य व्युत्थानेऽपि यथा स्थितिः ॥ ५३ ॥

'योगी स्वच्छन्दयोगेन स्वच्छन्दगतिचारिणा ।
स स्वच्छन्दपदे युक्तः स्वच्छन्दसमतां व्रजेत् ॥'

इत्यादिना श्रीस्वच्छन्दादिशास्त्रेषु वितत्य दर्शितम् । स्पन्देऽपि—

'तस्योपलब्धिः सततं त्रिपदाव्यभिचारिणी ।'

इति कारिकया संगृहीतमेतत् ॥ ११ ॥

'त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः ।
विद्यात्तदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते' ॥ ५९ ॥
इत्युक्तनिष्प्रतिद्वन्द्विसंवित्साम्राज्यवैभवः ।
चिद्धनः स्वात्मविज्ञानपरमानन्दनिर्भरः ॥ ६० ॥
वीरेशो येन वीराणां भेदग्रसनकारिणाम् ।
अन्तर्बहिर्विसरतामिन्द्रियाणामधीश्वरः ॥ ६१ ॥ ११ ॥

किमस्य परचित्तस्वारोहविश्रान्तिसूचिकाः ।
भूमिकाः सन्त्ययं याभिर्याति सर्वोत्तरां स्थितिम् ॥ ६२ ॥

एवं ज्ञानगर्भेऽपि—

'मयि स्थितमिदं जगत् सकलमेव सर्वत्र वा
स्थितोऽहमिति धारणाद्वितयभावनावेशतः ।
जगत्त्रियनाथतामतिचिरेण संप्राप्यते
नृभिस्तव सपर्यया दलितकिल्बिषोपप्लवैः ॥'

अत एव गुणसाम्यावस्थाप्रकृतितत्त्वजायमानानां सत्त्वरजःतमगुणानामेकैक-प्राधान्यात् त्रिविधस्य जाग्रदाद्यवस्थात्रयस्य प्रकाश-प्रवृत्ति-मोहरूपस्य स्ववैभवप्रसरणतया चमत्कर्तृत्वाद्वीरेशः—मरीचिनिचस्य ग्रासकर्ता कथ्यते इत्यर्थः ॥ ११ ॥

विस्मयो योगभूमिकाः ॥ १२ ॥

परतत्त्वैक्याध्यारोहविश्रान्तिसूचिकाः ॥ १२ ॥

स्वका न प्रच्यवत्यस्य तदर्थं सूत्रमादिशत् ।
एवं सर्वस्य सर्गादेः कारणं चिद्वपुः प्रभुः ॥ ५४ ॥
तदधिष्ठितमेवेदं जगत्समवलोकयन् ।
विस्मयाविष्ट इव यस्तिष्ठति प्रतिभानवान् ॥ ५५ ॥

किमस्य महायोगिनः काश्चित् तत्त्वाधिरोह-प्रत्यासन्ना भूमिकाः सन्ति ? याभिस्तत्त्वोर्ध्ववर्तिनी भूमिर्लक्ष्यते । सन्ति, इत्याह--

यथा सातिशयवस्तुदर्शने कस्यचित् विस्मयो भवति तथा अस्य महायोगिनो नित्यं तत्तद्वेद्यावभासामर्शाभोगेषु निःसामान्यातिशयनवनवचमत्कारचिद्घनस्वात्मावेशवशात् स्मेरस्मेरस्तिमितविकसितसमस्तकरणचक्रस्य यो विस्मयोऽनवच्छिन्नानन्दे स्वात्मनि अपरितृप्तत्वेन मुहुर्मुहुराश्चर्यायमाणता; ता एव योगस्य परतत्त्वैक्यस्य संबन्धिन्यो भूमिकाः; तदध्यारोहविश्रान्तिसूचिकाः परिमिता भूमयो, न तु कन्दबिन्द्वाद्यनुभववृत्तयः । तदुक्तं श्रीकुलयुक्तौ--

इत्यन्तेवासिहृच्छंकाशान्त्यै सन्तीत्युदीर्यते ।
यथा सातिशयानन्देकस्यचिद्विस्मयो भवेत् ॥ ६३ ॥
तथास्य योगिनो नित्यं तत्तद्वेद्यावलोकने ।
निःसामान्यपरानन्दानुभूतिस्तिमितेन्द्रिये ॥ ६४ ॥

यो हि महायोगनिष्ठपुरुषो वर्तते, तस्य किं तत्त्वाधिरोहणसमीपवर्तिन्य. काश्चन भूमिकाः विद्यन्ते ? याभिः षट्त्रिंशत्तत्त्वोपरिष्ठं स्थानं लक्षितं भवेत् । विद्यन्ते, इत्याह— 'विस्मयो योगभूमिकाः ।' यथा कस्यचिद् व्यक्तिविशेषस्य अतिशयवद्वस्तुदर्शने विस्मयो भवति, तथैव ईदृशस्य महायोगिनः सामान्यरूपेण अहंतत्त्वविश्रमणेषु अतिशयनवनवचमत्कारपरिपूर्णचिद्घनस्वस्वरूपप्रवेशात् करणचक्रद्वारा महान् विस्मयो जायते । यदुक्तं— योगी स्वच्छन्दयोगेन स्वच्छन्दगतिचारिणा ।
स स्वच्छन्दपदे युक्तः स्वच्छन्दसमतां व्रजेत् ॥ (स्व. तं.)

तस्य बिन्द्वादिभावौघसंबन्धाद्विस्मयोदयः ।
समाधिव्यक्तयस्ताः स्युर्या एता योगभूमयः ॥५६॥१२॥

एवमस्याप्रतिहता सर्वेच्छा च विजृम्भते ।
तदर्थं भगवान्सूत्रमभ्यभाषत शंकरः । ५७ ॥

'आत्मा चैवात्मना ज्ञातो यदा भवति साधकैः ।
तदा विस्मयमात्मा वै आत्मन्येव प्रपश्यति ॥'

इति । एतच्च--

तमाधिष्ठातृभावेन स्वभावमवलोकयन् ।
स्मयमान इवास्ते यस्तस्येयं कुसृतिः कुतः ॥'

इति कारिकया संगृहीतम् ॥ १२ ॥

परे स्वात्मन्यतृप्त्यैव यदाश्चर्यं स विस्मयः ।
स एव खलु योगस्य परतत्त्वैक्यरूपिणः ॥ ६५ ॥
भूमिकास्तत्क्रमारोहपरविश्रान्तिसूचिकाः ॥ १२ ॥

ईदृग्विस्मयवद्योगभूमिकारूढचेतसः ॥ ६६ ॥

तथा च विज्ञानभैरवे—

जलस्येवोर्मयो वह्नेर्ज्वालाभङ्ग्यो यथा रवेः ।
ममैव भैरवस्यैता विश्वभङ्ग्यो विनिर्गताः ॥ १०८ ॥

इत्थं निरवच्छिन्नानन्दस्वात्मनि अपरितृप्तत्वेन पौनःपुन्येन आश्चर्यायमाणत्वं भवति । एताः भूमिकाः परतत्त्वैक्यसम्बन्धिन्यः सन्ति । तत्क्रमाध्यारोहपरविश्रान्तिसूचिकाः परिच्छिन्ना भूमयो; न तु मूलाधारभ्रूमध्यस्थानाद्यनुभववृत्तयः सन्ति । तदुक्तं कुलयुक्तौ—

'आत्मा चैवात्मना ज्ञातो यदा भवति साधकैः ।
तदा विस्मयमात्मा वै आत्मन्येव प्रपश्यति ॥'

तथा चाहुराचार्यवसुगुप्तपादाः—

'तमधिष्ठातृभावेन स्वभावमवलोकयन् ।
स्मयमान इवास्ते यस्तस्येयं कुसृतिः कुतः' ॥ प्र. नि. ॥ ११ ॥ १२ ॥

इच्छा शक्तिरुमा कुमारी ॥ १३ ॥

योगिन इच्छा परैव पारमेश्वरी स्वातन्त्र्यरूपा शक्तिः, कुमारी विश्वसर्गसंहारक्रीडापरा ॥ १३ ॥

सर्वातिशायिनी शक्तिरिच्छैव परमात्मनः ।
सर्वदृक्कर्तृतायोगात्कुत्सावत्सृतिमारिणी ॥ ५८ ॥
निरावरणचिद्रूपसमावेशाद्ध्रुवत्यतः ।
तदेव कारणं तस्य सर्वत्राखण्डितं विभोः ॥५९॥१३॥

ईदृग्योगभूमिकासमापन्नस्यास्य योगिनः—

योगिनः परभैरवतां समापन्नस्य या इच्छा सा शक्तिरुमा; परैव पारमेश्वरी स्वतान्त्र्यरूपा, सा च कुमारी विश्वसर्गसंहारक्रीडापरा 'कुमार क्रीडायाम्' इति पाठात् ।

अथ च कुं भेदोत्थापिकां मायाभूमिं मारयति अनुद्भिन्नप्रसरां करोति तच्छीला । कुमारी च परानुपभोग्या भोक्त्रैकात्म्येन स्फुरन्ती ।

अथवा यथा उमा कुमारी परिहृतसर्वासङ्गा महेश्वरैकात्म्यसाधनाराधनाय नित्योद्युक्ता तथैव अस्येच्छा, इत्यस्मद्गुरुभिरित्थमेव पाठो दृष्टो व्याख्यातश्च ।

अन्यैस्तु 'शक्तितमा' इति पठित्वा ज्ञानक्रियापेक्षोऽस्याः प्रकर्षो व्याख्यातः ।

परभैरवतां युक्त्या समापन्नस्य शाश्वतीम् ।
तस्यैव योगिनो येच्छा शक्तिः सैव भवत्युमा ॥ ६७ ॥
परा भट्टारिका सैव कुमारीति प्रकीर्तिता ।
सदाशिवादिक्षित्यन्तविश्वसर्गादिलीलया ॥ ६८ ॥
कुमारी कुं महामायाभूमिं मारयतीत्यपि ।
कुमारी चोपभोग्यास्य योगिनो भैरवात्मनः ॥ ६९ ॥

पूर्ववर्त्तिन्यां योगभूमिकायां समापन्नस्य योगिनः किं भवति तदा—'इच्छा शक्तिरूमा कुमारी ।' परभैरवरूपतां प्राप्तस्य महायोगिनः या इच्छा जायते, सा शक्तिः भवति उमा अर्थात् पारमेश्वरी स्वतन्त्रारूपिणी । यदुक्तं—'या अस्य इच्छासा अस्य शक्तिः सा च कुमारी ।'

एवं सर्वात्मकस्यास्य किमेकं देहिदेहवत् ।
शरीरमुत वा सर्वमत्रोवाच सुरेश्वरः ॥ ६० ॥
सर्वभावोद्भवस्यास्य सर्वबीजात्मनः प्रभो ।
चिद्रूपस्य व्यापकत्वान्नैकं तस्य शरीरकम् ॥ ६१ ॥

एवं न लौकिकवत् अस्य योगिनः स्थूलेच्छा, अपि तु परा शक्तिरूपैव सर्वत्राप्रतिहता । तदुक्तं श्रीमत्स्वच्छन्दे--

'सा देवी सर्वदेवीनां नामरूपैश्च तिष्ठति ।
योगमायाप्रतिच्छन्ना कुमारी लोकभाविनी ॥'

इति । श्रीमृत्युञ्जयभट्टारकेऽपि--

'सा ममेच्छा परा शक्तिरवियुक्ता स्वभावजा ।
वह्नेरूष्मेव विज्ञेया रश्मिरूपा रवेरिव ।
सर्वस्य जगतो वापि सा शक्तिः कारणात्मिका ॥'

इति । तदेतत्--

'नहीच्छानोदनस्यायं प्रेरकत्वेन वर्तते ।
अपि त्वात्मबलस्पर्शात्पुरुषस्तत्समो भवेत् ॥'

इति कारिकया भङ्ग्या प्रतिपादितम् ॥ १३ ॥

कुमारी नान्यभोग्या च भोक्तैकात्म्येन तिष्ठति ।
उमा कुमारी संत्यक्तसर्वासङ्गा महेशितुः ॥ ७० ॥
आराधनपरा तद्वदिच्छा शक्तिस्तु योगिनः ।
अयमेव स्फुटः पाठो दृष्टोऽनुत्तरदैशिकैः ॥ ७१ ॥
व्याख्यातश्च, परैः शक्तितमेतिपठनात्पुनः ।
प्रकर्षो व्याकृतोऽमुष्याः शक्तैर्ज्ञानक्रियात्मतः ॥ ७२ ॥ १३ ॥

एवमीदृक्प्रभावेच्छाशक्तियुक्तस्य योगिनः ।
यद्यद्दृश्यमशेषं तच्छरीरं तस्य योगिनः ॥ ७३ ॥

भगवती उमा न कस्यचित् पत्नी अस्ति, अपि तु कन्यारूपा कुमारी । अत एव सा भगवती उमादेवी विश्वसर्गसंहारक्रीडायामेव निरन्तरं संलग्ना तिष्ठति । कुं मारयतीति कुमारी । कुं माया स्थानं भेदोपस्थापकं मारयति तिरस्कृतं करोति ॥ १३ ॥

दृश्यं शरीरम् ॥ १४ ॥

बाह्यमाभ्यन्तरं वा यत् दृश्यं, तत् सर्वम् अस्य अहमिदम् इति स्वाङ्गकल्पं स्फुरति, न भेदेन ॥ १४ ॥

तत्र बाह्यार्थ एवास्य यो यो दृश्यो विकल्पजः ।
स स देहो व्यापकत्वात्सर्वभावोद्भवत्वतः ॥ ६२ ॥

ईदृशस्य महेच्छस्य--

यद्यद् दृश्यं बाह्यमाभ्यन्तरं वा, तत्तत् सर्वम् 'अहमिदम् इति-सदाशिववन्महासमापत्त्या स्वाङ्गकल्पमस्य स्फुरति; न भेदेन ।

शरीरं च देहधीप्राणशून्यरूपं नीलादिवद् दृश्यं; न तु पशुवद्द्रष्टृतया भाति । एवं देहे बाह्ये च सर्वत्रास्य मयूराण्डरसवदविभक्तैव प्रतिपत्तिर्भवति । यथोक्तं श्रीविज्ञानभैरवे--

अहमित्यपृथक्त्वेन पतिवत्प्रतिभासनात् ।
शरीरं देहधीप्राणशून्यरूपं घटादिवत् ॥ ७४ ॥
दृश्यमेवास्य, पशुवत् द्रष्टृत्वेन न भासते ।
एवं देहे च बाह्ये च सर्वत्रैवास्य योगिनः ॥ ७५ ॥

यस्य योगनिष्ठपुरुषस्य ईदृशी महेच्छा जायते, तस्य समग्रं बाह्याभ्यन्तरात्मकं दृश्यभूतं वस्तु स्वशरीररूपमेव भवतीति सूत्रद्वारा निर्दिशति—'दृश्यं शरीरम् ।' यद्यद् दृश्यं यस्मिन् जगति वर्तते, तद्बाह्यं स्याद् आभ्यन्तरं वा स्यात्, तत्तत् समग्रमपि 'अहमिदम्' इति सदाशिवेवमहाप्रकाशापत्त्या स्वाङ्गकल्पं विश्वं 'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्' इति वक्ष्यमाणेन स्वस्वभावाव्यतिरिक्तमेव परामृशतः प्रस्फुरति, न तु स्वशरीरात् पृथग्रूपेण अवलोकयति । शरीरमपि दृश्यभूतमेव वर्तते, यथा नीलादिवस्तुजातं देहधीप्राणशून्यरूपेण दृश्यं वर्तते, एवमेव भाति न तु अज्ञानीवत् द्रष्टृतारूपेण अर्थात् शरीरे अहंभावरूपेणेति रहस्यम् । किन्तु अस्य महायोगनिष्ठपुरुषस्य इत्थम् अस्य महायोगिनो बाह्याभ्यन्तरं सर्वत्र मयूराण्डरसेवाभिन्नतयैव ज्ञानं भवति । यथोक्तं विज्ञानभैरवे—

'जलस्येवोर्मयो वह्नेर्जालाभङ्ग्यः प्रभा रवेः ।
ममैव भैरवस्यैता विश्वभङ्ग्यो विभेदिताः ॥' ॥ १०८ ॥

तथा चाहुः श्रीवसुगुप्तपादाः स्पन्दकारिकायाम्—

स्ववर्गचित्स्वरूपेण तादात्म्यात्सर्वदेहभृत् ।
शरीरव्यतिरेकेण दर्पणप्रतिबिम्बवत् ॥ ६३ ॥
दृश्यं यस्य व्यापकत्वात्स मोक्षश्रीनिकेतनम् ॥ १४ ॥

उक्त्वैवं ज्ञानसद्भावस्तद्योगश्च कथं भवेत् ॥ ६४ ॥
स्वहृन्मन्दिरगस्यास्य तदर्थं सूत्रमाह च ।
आधारभूते हृदये चेतसः स्थित्युपग्रहः ॥ ६५ ॥

'जलस्येवोर्मयो वह्नेर्ज्वालाभङ्ग्यः प्रभा रवेः ।
ममैव भैरवस्यैता विश्वभङ्ग्यो विनिर्गताः ॥'

इति । एतच्च—

'भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः ।'

इत्यनेन संगृहीतम् ॥ १४ ॥

मयूराण्डरसन्यायात्प्रतिपत्तिरभेदिनो ॥ १४ ॥

दृश्यं शरीरतामेति शरीरं चापि दृश्यताम् ॥ ७६ ॥
इत्युक्तं योगिनो यत्तन्न दुर्घटमितीर्यते ।
'हृदयं तद्विजानीयाद्विश्वस्यायतनं महत्' ॥ ७७ ॥

'यस्मात् सर्वमयो जीवः सर्वभावसमुद्भवात् ।
तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः ॥
तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न यः शिवः ।
भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः ॥
इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥' द्वि. नि. ॥ ३–५ ॥

अयं निष्कर्षः—समस्तवेद्यवस्तुस्वरूपो भगवान् परमशिव एव स्फटिकवत्स्वप्रतिबिम्बितानां स्वाश्रयानां क्वचित् परिमितभूमिकायामपि बहिरन्तर्विद्यमानानां पदार्थानां सर्वव्यापित्वात् तत्संवित्प्रकाशस्फुर्तिप्रदानं तदवस्थाऽन्यथानुपपत्तिसद्रूपेण जीवनदशायामिति ॥ १४ ॥

हृदये चित्तसंघट्टाद्दृश्यस्वापदर्शनम् ॥ १५ ॥

चित्प्रकाशे, चलतः चित्तस्य एकाग्रभावनात् दृश्यस्य नील-देह-प्राण-बुद्ध्यात्मनः स्वापस्य च एतदभावरूपस्य शून्यस्य दर्शनं यथा-वस्तु स्वाङ्गकल्पं भवति ॥ १५ ॥

संघट्ट इष्यते तेन स्याद्दृश्यस्वापदर्शनम् ।
सौषुप्तं व्योम हृदयं मध्यस्थत्वात्प्रभाष्यते ॥ ६६ ॥
अत्रात्मनः समाधानं यत्संघट्टः स चेतसः ।
तदुत्थवृत्तिजालस्य स्वात्मन्यैक्यादुदीरितः ॥ ६७ ॥
शरीरापेक्षया तस्मिन् व्योम्नि लीनो यदा तदा ।
ब्रह्मक्षत्रवधस्तस्य स्थित एवानुषङ्गतः ॥ ६८ ॥

यच्चेदं सर्वस्य दृश्यस्य शरीरतया, शून्यान्तस्य च दृश्यतया, एकरूपं प्रकाशनमुक्तं नैतत् दुर्घटम्; अपि तु—

विश्वप्रतिष्ठास्थानत्वात् चित्प्रकाशो हृदयं; तत्र चित्तसंघट्टात् चलतश्चलतः तदेकाग्रभावनात् दृश्यस्य, नीलदेहप्राणबुद्ध्यात्मनः; स्वापस्य च, एतदभावरूपस्य शून्यस्य; दर्शनं, त्यक्तग्राह्यग्राहकविभेदेन यथावस्तु स्वाङ्गकल्पतया प्रकाशनं भवति । चित्प्रकाशतामभिनिविशमानं हि चित्तं तदाच्छुरितमेव विश्वं पश्यति । तदुक्तं श्रीविज्ञानभैरवे—

इत्युक्तनीत्या हृदयं विश्वविश्रान्तिभित्तिभूः ।
स्वसंवित् तत्र संघट्टश्चित्तस्य चलतः सतः ॥ ७८ ॥
तदैकात्म्यपरामर्शजागरूकस्वभावता ।
तस्माद्दृश्यस्य विश्वस्य नीलदेहादिरूपिणः ॥ ७९ ॥

समग्रस्य दृश्यवस्तुनः शरीररूपेण तथा शरीरस्य दृश्यतया पश्यतो महायोगिनो नैतद् दुर्घटम् अपि तु, —'हृदये चित्तसंघट्टाद्दृश्यस्वापदर्शनम् ।' हृदयं हि विश्वस्य आधारात्मकं सद्वस्तु अस्तीति ज्ञेयम् । इत्युक्तरीत्या हृदयस्य विश्वविश्रान्तिस्थानं गम्यते । यद्यपि चित्तस्य स्वभावोऽतिचाञ्चल्येन युक्तस्तथापि स्थिरतासंपादनोद्यमद्वारा

दृश्यं स्यादुपलभ्यं यन्निरावरणलक्षणम् ।
स्वस्वरूपं प्रबुद्धं तत्तत्प्राप्तिर्दर्शनं स्मृतम् ।। ६९ ।।
स्वापकारस्य मोहस्य हानावत्र च दर्शनम् ।
दिव्यमुद्रासमावेशात्प्रबुद्धः सर्वदा विभुः ।। ७० ।।
अप्रबुद्धमतेस्तस्य स्यात्स्वापस्यैव दर्शनम् ।
सोमपानात्प्रबुद्धस्य स्वप्नस्वातन्त्र्यमेव तत् ।। ७१ ।।
तमोवरणनिर्भेदः सोऽयं च प्रतिभोदयः ।। १५ ।।

'हृद्याकाशे निलीनाक्षः पद्मसंपुटमध्यगः ।
अनन्यचेताः सुभगे परं सौभाग्यमाप्नुयात् ।।'

इति । परं हि अत्र सौभाग्यं विश्वेश्वरतापत्तिः । तत्त्ववृत्तिसमापन्नं महायोगिनमुद्दिश्य श्रीमत्स्वच्छन्देऽपि—

'स च सर्वेषु भूतेषु भावतत्त्वेन्द्रियेषु च ।
स्थावरं जङ्गमं चैव चेतनाचेतनं स्थितम् ।।
अध्वानं व्याप्य सर्वं तु सामरस्येन संस्थितः ।'

इति । स्पन्दे तु—

'तथा स्वात्मन्यधिष्ठानात्सर्वत्रैवं भविष्यति ।।'

इत्यनेनैव एतत्संगहीतम् ।। १५ ।।

स्वापस्यैतदभावस्य शून्यस्यापिच दर्शनम् ।
'स्वाङ्गरूपेषु भावेषु प्रमाता कथ्यते पतिः' ।। ८० ।।
इति श्रीप्रत्यभिज्ञोक्तनीत्या पत्युरिव प्रभोः ।
स्वाङ्गकल्पतया तस्य यथावत्प्रथनं भवेत् ।। ८१ ।। १५ ।।

तस्य निग्रहं कृत्वा परमशिवस्वरूपतापरामर्शप्रयुक्तजागरूकस्वभावता जायते । एवं च सम्पूर्णप्रपञ्चात्मकविश्वदृश्यस्य स्वशरीरस्वरूपत्वदर्शनेन तद्दृष्ट्या तदभावः सम्पद्यते अर्थात् स्वशरीरादतिरिक्तं तदस्तित्वमेव विनश्यति । सर्वं शून्यात्मकं जायते रहस्यमिति । अत एव स्वाङ्गभूतेषु भावेषु यो हि प्रमाता विद्यते, स एव तेषां पतिः । प्रत्यभिज्ञादर्शनसरणिमनुसृत्य परमशिवात्मा प्रभुः पतिरेव भवति । यदाहुराचार्योत्पलपादाः—

एष प्रमाता मायान्धः संसारी कर्मबन्धनः ।
विद्याभिज्ञापितैश्वर्यश्चिद्घनो मुक्त उच्यते ।। ३-२-२ ।।

शुद्धतत्त्वानुसंधानाद्वाऽपशुशक्तिः ॥ १६ ॥

परमशिवाख्ये तत्त्वे यदा विश्वम् अनुसन्धत्ते तन्मयमेव एतत् इति, तदा अविद्यमाना पश्वाख्या बन्धशक्तिः यस्य, तादृक् अयं सदाशिववत् जगतः पतिर्भवति ॥ १६ ॥

अन्तर्बहिर्विचार्यैव स्वरूपं तद्विवर्जनात् ॥ ७२ ॥
अखण्डमण्डलाकारं परिपूर्णं करस्थितम् ।
तदर्थं शिवशक्त्यात्मभेदे स्थितिर्यथा स्थिता ॥ ७३ ॥
स्वालोकश्च न हीयेत प्राह सूत्रत्रयं विभुः ।
शुद्धं निरुपधि ज्योतीरूपं तत्त्वं शिवाभिधम् ॥ ७४ ॥

अत्रैव उपायान्तरमाह--

शुद्धं तत्त्वं परमशिवाख्यं, तत्र यदा विश्वमनुसंधत्ते 'तन्मयमेव एतत्' इति, तदा अविद्यमाना पश्वाख्या बन्धशक्तिर्यस्य तादृगयं सदाशिववत् विश्वस्य जगतः पतिर्भवति । तदुक्तं श्रीमल्लक्ष्मीकौलार्णवे--

उक्तेऽप्येवं प्रमेयेऽस्मिन्नुपायान्तरमुच्यते ।
शुद्धं तत्त्वं परं वस्तु यत्तत्परशिवात्मकम् ॥ ८२ ॥

स्वाङ्गरूपेषु भावेषु प्रमाता कथ्यते पतिः ।
मायातो भेदिषु क्लेशकर्मादिकलुषः पशुः ॥ ३-२-३ ॥

किन्तु परित्यक्तग्राह्यग्राहकभावविभेदेन यथावस्तु स्वाङ्गकल्पत्वेन प्रकाशनं भवति । यतो हि चित्प्रकाशमानतामभिनिविशमानं चित्तं तदा अभिन्नमेव विश्वप्रपञ्चम् अवलोकयति । तथा चोक्तं विज्ञानभैरवे—

हृदाकाशे निलीनाक्षः पद्मसंपुटमध्यगः ।
अनन्यचेताः सुभगे परं सौभाग्यमाप्नुयात् ॥' ॥ ४८ ॥

परं हि अत्र सौभाग्यं विश्वेश्वररूपतापरमानन्दस्य प्राप्तिर्भवति ॥ १५ ॥

प्रमेयपदार्थेषु शरीराङ्गत्वे प्रोक्तेऽपि उपायान्तरं सम्प्रति कथ्यते—'शुद्धतत्त्वसन्धानाद्वाऽपशुशक्तिः ।' अज्ञानकुहरपतितः सर्वेऽपि देहधारिणः पशवः, एतेषां पशुत्वं तदेवापगच्छतीति यदा परमशिवस्य निरन्तरं तादात्म्येन अनुसन्धानं क्रियेत अर्थात् सर्वं शिव-

तत्संधानं तदात्मत्वविमर्शस्तेन वा भवेत् ।
तमोवरणनिर्भेदः परिपूर्णैकरूपतः ।। ७५ ।।
बाह्याहंभावसंत्यागादखण्डितनिजस्थितिः ।।

इति शिवचैतन्यनिरूपणम् ।।

स्वपदं सत्पदं ज्ञेयं शिवाख्यं यदुदीरितम् ।। ७६ ।।

'दीक्षासिद्धौ तु ये प्रोक्ताः प्रत्ययाः स्तोभपूर्वकाः ।
संधानस्यैव ते देवि कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।।'

इति । श्रीविज्ञानभैरवे तु—

'सर्वं देहं चिन्मयं हि जगद्वा परिभावयेत् ।
युगपन्निर्विकल्पेन मनसा परमोद्भवः ।।'

इति । तदेतत्—

'इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
स पश्यन्सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ।।'

इति कारिकया संगृहीतम् ।। १६ ।।

तत्संधानं प्रपञ्चस्य तन्मयत्वेन भावनम् ।
तेनैव यस्य पशवाख्या बन्धशक्तिर्न विद्यते ।। ८३ ।।
तत्सदाशिववत्सोऽपि विश्वस्य जगतः पतिः ।। १६ ।।

मयमेवैतद्विश्वमिति परामृशति । यतो हि परमशिव एव सर्वातिशायी विशुद्धं लोकोत्तर-तत्त्वात्मकं वस्तु विद्यते, तदनुसन्धानेन सर्वस्य विश्वप्रपञ्चस्य शिवमयत्वं भवति । अनु-सन्धानं नाम भावनमस्ति, तादृशभावनया प्राणिनः मनुष्यस्य पशुरूपाबन्धशक्तिर्विलीना भवति । अस्यां स्थितौ यथा सदाशिवो जगतः स्वामी, तद्वद् अयमपि जगतः पतिर्भवति । तथा चोक्तं कौलार्णवे—

'दीक्षासिद्धौ तु ये प्रोक्ताः प्रत्ययाः स्तोभपूर्वकाः ।
सन्धानस्यैव ते देवि कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।।'

इति विज्ञानभैरवेऽपि—

'सर्वं देहं चिन्मयं हि जगद्वा परिभावयेत् ।
युगपन्निर्विकल्पेन मनसा परमोद्भवः ।।' ।। ६२ ।।

इत्यादिना संगृहीतम् ।। १६ ।।

वितर्क आत्मज्ञानम् ॥ १७ ॥

विश्वात्मा शिव एव अस्मि—इति यो वितर्को विचारः एतदेव आत्मज्ञानम् ।। १७ ।।

तद्वीर्यं दृक्क्रियारूपं यत्सा शक्तिः प्रकीर्तिता ।
तस्याः कर्त्रंशसंवेशो लीनता स्यात्स्थितिश्च सा ।। ७७ ।।
तदेव प्रतिभालोकः स्यात्प्रकाशैकमन्थरः ।।
इति शक्तिचैतन्यनिरूपणम् ।।

ईदृग्ज्ञानरूपस्य अस्य योगिनः——

'विश्वात्मा शिव एवास्मि' इति यो वितर्को विचारः, एतदेव अस्य आत्मज्ञानम् । तदुक्तं श्रीविज्ञानभैरवे——

'सर्वज्ञः सर्वकर्ता च व्यापकः परमेश्वरः ।
स एवाहं शैवधर्मा इति दाढर्याच्छिवो भवेत् ।।'

इति । स्पन्देऽपि——

'........... अयमेवात्मनो ग्रहः ।'

इत्यनेन एतदुक्तम् । तत्र हि आत्मनो ग्रहणं ग्रहो ज्ञानम् एतदेव, यद्विश्वात्मक-शिवाभिन्नत्वम्; एषोऽपि अर्थो विवक्षितः ।। १७ ।।

शुद्धतत्त्वानुसंधानवत एवास्य योगिनः ।। ८४ ।।
वितर्कः प्रोक्तसंधानध्वस्तबन्धस्य योगिनः ।
विश्वात्मा शिव एवाहमस्मीत्यर्थविचिन्तनम् ।। ८५ ।।
एतदेव स्फुरद्रूपमात्मनो ज्ञानमुच्यते ॥ १७ ।।

विशुद्धतत्त्वभावनया योगिन आत्मज्ञानं भवतीति प्रतिपाद्यते—'वितर्क आत्मज्ञानम् ।' परमशिवतत्त्वभावनया अस्य योगनिष्ठपुरुषस्य बन्धविनाशः संजातः; तस्यैव अहं विश्वात्मा शिवरूपोऽस्मीति निरन्तरं चिन्तनं भवति, एतच्चिन्तनमेव स्फुरणरूपस्य आत्मनः ज्ञानमुच्यते । अयमेव वितर्को विचारः । तथा चोक्तं विज्ञानभैरवे—

'सर्वज्ञः सर्वकर्ता च व्यापकः परमेश्वरः ।
स एवाहं शैवधर्मा इयि दाढर्याच्छिवो भवेत् ।।' ।। १०७ ।।

इत्थं यो विचाररूपो वितर्को जायते, एतदेव अस्य महायोगिन आत्मज्ञानम् अस्ति ।। १७ ।।

लोकानन्दः समाधिसुखम् ॥ १८ ॥

लोक्यते इति लोको वस्तुग्रामो, लोकयति इति च लोको ग्राहकवर्गः, तस्मिन् स्फुरति सति, प्रमातृपदविश्रान्त्यवधानात् तच्चमत्कारमयो य आनन्द एतदेव अस्य समाधिसुखम् ॥ १८ ॥

उपाध्युपाधिसंभेदे विवेकः प्रत्यवेक्षणम् ॥ ७८ ॥
स वितर्कः स्वस्वभावविमर्शैकघनात्मनः ।
आत्मनः शिवरूपस्य प्रत्यभिज्ञाप्रसाधने ॥ ७९ ॥
परं तत्साधनं ज्ञेयं तस्मिन्सत्यात्मवेदनम् ।
तस्माद्वा प्रतिभोन्मेषः स्याच्छुद्धस्यात्मनः परः ॥ ८० ॥

इति आत्मचैतन्यनिरूपणम् ॥

किं च अस्य--

लोक्यते इति लोको, वस्तुग्रामः; लोकयति इति च लोको, ग्राहकवर्गः; तस्मिन्स्फुरति सति--

'ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम् ।
योगिनां तु विशेषोऽयं संबन्धे सावधानता ॥'

किंचास्य प्रोक्तवैतर्कस्वात्मविज्ञानशालिनः ॥ ८६ ॥
लोक्यं लोकयिता चेति लोकश्चेत्यचिदात्मनि ।
तत्तद्रूपतया तस्मिल्लोके स्फुरति योगिनः ॥ ८७ ॥
'ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम् ।
योगिनां तु विशेषोऽयं संबन्धे सावधानता' ॥ ८८ ॥

लोकानन्द एव समाधिसुखं भवतीति दर्शयति—'लोकानन्दः समाधिसुखम् ।' लोकानन्दपदं लोकशब्देन घटितं वर्तते । लोक्यते इति लोकः, लोकयतीति लोकः, इति व्युत्पत्तिद्वयेन लोकशब्दो ग्राह्यग्राहकरूपं अर्थद्वयं बोधयति । एवं च यस्य अनुसंधानवतो योगनिष्ठपुरुषस्य चेत्यचिदात्मनि तत्तद्रूपेण तद्द्वयं स्फुरति । सामान्यदेहधारिणां ग्राह्यग्राहकरूपं ज्ञानम् एकरूपतो जायते । अयं घटस्तमहं जानामीति । योगिनाम् अयं विशेषो वर्तते । यदाहुः सोमानन्दपादाः शिवदृष्टै—

निरानन्द-परानन्द-महानन्दस्वरूपकम् ।
शिवशक्त्यात्मचैतन्यत्रयमेतन्निरूपितम् ॥ ८१ ॥
विश्रामलाभप्रोल्लासभूमिसंज्ञं त्रयेण च ।
सूत्राणां············ ॥ १६–१८॥

इति श्रीविज्ञानभट्टारकनिरूपितनीत्या प्रमातृपदविश्रान्त्यवधानान्तश्चमत्कारमयो य आनन्द एतदेव अस्य समाधिसुखम् । तदुक्तं तत्रैव––

'सर्वं जगत्स्वदेहं वा स्वानन्दभरितं स्मरेत् ।
युगपत्स्वामृतेनैव परानन्दमयो भवेत् ॥'

इति । एतच्च––

'इयमेवामृतप्राप्तिः···············।'

इत्यनेन संगृहीतम् ।

अथ च यत् अस्य स्वात्मारामस्य समाधिसुखं, तदेव तत्तादृशम् अवलोकयतां लोकानाम् आनन्दसंक्रमणयुक्त्या स्वानन्दाभिव्यक्तिपर्यवसायि भवति । एतदपि श्रीचन्द्रज्ञानग्रन्थेन प्रागुक्तेन (२३ पृ० सू० ७) सुसंवादम् ॥ १८ ॥

इत्युक्तनीत्या तत्सर्वमहमित्यनुसंहितेः ।
आनन्दो यो भवत्यन्तस्तत्समाधिसुखं स्मृतम् ॥ ८९ ॥
यत्समाधिसुखं तस्य स्वात्मारामस्य योगिनः ।
तदेव लोके लोकानामानन्दोऽन्तर्विचिन्वताम् ॥ ९० ॥

'घटो मदात्मना वेत्ति वेद्म्यहं च घटात्मना ।
सदाशिवात्मना वेद्मि स वा वेत्ति मदात्मना ॥
नानाभावैः स्वमात्मानं जानन्नास्ते स्वयं शिवः ।'

तथा चोक्तं विज्ञानभैरवे—

'ग्राह्यग्राहकसंवित्ति सामान्या सर्वदेहिनाम् ।
योगिनां तु विशेषोऽयं सम्बन्धे सावधानता ॥' १०४ ॥

अर्थात् समग्रदेहधारिणां सकलप्रमातॄणां ज्ञातृज्ञानज्ञेयं निर्विशेषमस्ति । किन्तु महायोगनिष्ठपुरुषाणां कृते आद्यन्तमध्यदशावगाहि ज्ञातृस्वरूपाविस्मरणरूपा सावधानता विद्यते ।

शक्तिसंधाने शरीरोत्पत्तिः ॥ १९ ॥

पूर्वोक्तेच्छाशक्तितन्मयीभावे तद्वशेन यथाभिमतं शरीरम् अस्य उत्पद्यते ॥ १९ ॥

······पुनरप्याह यथास्य प्रतिभोदये ॥ ८२ ॥
स्वरूपलाभसौख्यैक्यप्रकाशैक्यं कचत्यलम् ।
चित्प्रकाशः परः शुद्धश्चान्तर्बहिरिवोदितः ॥ ८३ ॥
नित्यः सर्वात्मकः सर्वः सर्वभावोद्भवो विभुः ।
स लोक इति विज्ञेयः स एवानन्द उच्यते ॥ ८४ ॥

अथ ईदृशस्य अस्य योगिनो विभूतियोगं दर्शयति--

'इच्छा शक्तिरुमा कुमारी' (१--१३) इति सूत्रेण या अस्य शक्तिरुक्ता, तामेव यदा अनुसंधत्ते, दार्ढ्येन तन्मयीभवति, तदा तद्वशेन अस्य यथाभिमतं शरीरमुत्पद्यते । तदुक्तं श्रीमृत्युञ्जयभट्टारके--

'ततः प्रवर्तते शक्तिर्लक्ष्यहीना निरामया ।
इच्छा सा तु विनिर्दिष्टा ज्ञानरूपा क्रियात्मिका ॥

इत्युपक्रम्य--

'सा योनिः सर्वदेवानां शक्तीनां चाप्यनेकधा ।
अग्नीषोमात्मिक योनिस्तस्यां सर्वं प्रवर्तते ॥'

इति । शक्तिसंधानमहात्म्यं लक्ष्मीकौलार्णवे--

विभूतियोगमेतस्य दर्शयत्यथ योगिनः ।
इच्छा शक्तिरुमेत्यादिसूत्रोक्ता शक्तिरस्य या ॥ ९१ ॥
सन्धाने योगिनस्तस्यास्तन्मयीभावने सति ।
तद्वशात्तत्तदिच्छार्हशरीरोत्पत्तिरिष्यते ॥ ९२ ॥ १९ ॥

यत्सर्वमेवाहमिति भावनया लोकोत्तरानन्दो जायते, एतदेव समाधिसुखमस्ति । स्वात्मारामे महायोगनिष्ठपुरुषे यत्समाधिसुखं समुत्पद्यते, तस्मिन् सुखे सामान्यप्राणिनाम् आनन्दोऽन्तर्भवति । अत एव समुद्रस्थानीये योग्यनुभूयमाने आनन्दे कणिकास्थानीयस्य साधारणलोकानुभूयमानस्य आनन्दस्य तस्मिन्नन्तर्भवति ॥ १८ ॥

साम्प्रतम् अस्य योगिन अणिमाद्यष्टैश्वर्येण यथेष्टनिर्माणवैलक्षण्यसम्पादनशक्तिं दर्शयतीति—'शक्तिसन्धाने शरीरोत्पत्तिः ।' पूर्वं 'इच्छाशक्तिरुमा कुमारी'त्युक्तम्,

चित्प्रकाशैककचनं निर्यन्त्रणस्फुरद्वपुः ।
तदास्वादैकतानत्वात्समाधिसुखमीर्यते ॥ ८५ ॥
यद्वा ग्रहीतृग्राह्यैकवर्गप्रसरणात्मके ।
पदद्वये स्वप्रमोदस्तत्समाधिसुखं स्मृतम् ॥८६॥१९॥

'न संधानं विना दीक्षा न सिद्धीनां च साधनम् ।
न मन्त्रो मन्त्रयुक्तिश्च न योगाकर्षणं तथा ॥

इत्यादिना प्रतिपादितम् । एतच्च--

'यथेच्छाभ्यर्थितो धाता जाग्रतोऽर्थान्हृदि स्थितान् ।
सोमसूर्योदयं कृत्वा संपादयति देहिनः ॥'

इत्यनेन संगृहतीम् । देहिनः अत्यक्तदेहवासनस्य योगिनो हृदि स्थितान् अर्थान् तत्तदपूर्वनिर्माणादिरूपान् धाता महेश्वरः प्रकाशानन्दात्मतया सोमसूर्यरूपवाहोन्मीलनेन सोमसूर्यसामरस्यात्मनश्च शक्तेरुदयं कृत्वा बहिर्मुखवाहित्वेनतामासाद्य संपादयति; इति हि अस्यार्थः--

'तथा स्वप्नेऽप्यभीष्टार्थान्...............।'

इत्येतच्छ्लोकप्रतिपादितस्वप्नस्वातन्त्र्यं प्रति दृष्टान्ते योजितः, इति स्पन्दनिर्णये मयैव दर्शितम् ॥ १९ ॥

एतत्प्रक्रियया तादृच्छक्तेः निरन्तरं भावनया यादृशी यादृशी तत्तद्वस्तुसन्धानं विधत्ते, तेन अयं यादृशं स्वयोग्यं शरीरं वाञ्छति, तादृच्छरीरस्य उत्पत्तिर्भवति । लक्ष्मीकौलार्णवे तु शक्तिसन्धानरहस्यमुक्तम्—'न सन्धानं विना दीक्षा न सिद्धीनां च साधनम् ।
न मन्त्रो मन्त्रयुक्तिश्च न योगाकर्षणं तथा ॥

अत एव सन्धानमेव देहान्तरोत्पत्तौ निमित्तमस्ति ।

उमाकुमारीरूपाया इच्छाया अनन्तशक्तिसामर्थ्येन योगनिष्ठपुरुषस्य भावयितुः नास्ति किमपि दुर्घटम् । यदाहुः स्पन्दे वसुगुप्तपादाः—

'यथेच्छाभ्यर्थितो धाता जाग्रतोऽर्थान्हृदि स्थितान् ।
सोमसूर्योदयं कृत्वा संपादयति देहिनः ॥' ३३ ॥

शक्तिस्वरूपा हि भावपदार्थाः सन्ति, तेषां निरूपादानादिसामग्रीसमूहं स्वभित्तावेव निभासनाद्धेतोः तादृच्छक्तिविशिष्टचिदात्मस्वरूप एव भवति, अतः स्वकीयेच्छया स्वात्मनि प्रकाशैक्याद् वर्तमानमर्थग्रामं समुन्मीलयति, अस्यां स्थितौ पूर्वप्रदर्शितं स्वातन्त्र्यात्मकशक्तिं तादात्म्यतया अनुसंदधानः स्वाधीनोऽयं योगी यथेष्टं तिर्यङ्नरामरविलक्षणां देहोत्पत्तिं विरचयति ॥ १९ ॥

भूतसंधान-भूतपृथक्त्व-विश्वसंघट्टाः ॥ २० ॥

भूतानां शरीरप्राणादीनाम्, आप्यायनादौ सन्धानं परिपोषणं, व्याध्याद्युपशमादौ तत्सकाशात् पृथक्त्वं शरीरादेर्विश्लेषणं, देश-कालादिविप्रकृष्टस्य च विश्वस्य संघट्टो ज्ञानविषयीकार्यत्वम्, अस्य पूर्वोक्तशक्तिसंधाने सति जायते ॥ २० ॥

एवं स्वतन्त्रस्य सतः स्वेच्छाकर्तृत्वसूचकम् ।
सूत्रं प्रोवाच भगवानकृत्रिमफलोदये ॥ ८७ ॥
यतः क्रियात्मिका शक्तिर्बन्धयित्री पशुष्वतः ।
शक्तिमान्निरुपादानः सच्चिद्रूपः प्रकाशकः ॥ ८८ ॥
अन्तःस्थितनां भावानामिच्छयैव बहिर्यतः ।
इच्छाज्ञानक्रियापूर्वाः शक्तयः पञ्च संस्थिताः ॥ ८९ ॥

अन्या अपि अस्य यथाभिलषिताः सिद्धय एतन्माहात्म्येनैव घटन्ते इत्याह—

भूतानि शरीरप्राणभावाद्यात्मकानि; तेषां क्वचित् आप्यायनादौ संधानं, परिपोषणं; व्याध्याद्युपशमादौ पृथक्त्वं, शरीरादेर्विश्लेषणं; देश-कालादिविप्रकृष्टस्य च विश्वस्य संघट्टो, ज्ञानविषयीकार्यत्वादिकः; अस्य पूर्वोक्तशक्तिसंधाने सति जायते। एतच्च सर्वागमेषु साधनाधिकारेषु अस्ति। तदेव स्पन्दे—

अन्याश्च सिद्धयस्तस्य संभवन्तीत्युदीर्यते।
भूतानां देहधीप्राणशून्यानां ग्राहकात्मनाम् ॥ ६३ ॥
ग्राह्याणां स्थावराणां च संधानं परिपोषणम्।
पृथक्त्वमथ विश्लेषो व्याध्यादिक्लेशशान्तये ॥ ६४ ॥

अन्याश्च अस्य योगिनः यथाभिलषिताः सिद्धय एतन्माहात्म्येनैव संभवन्तीत्यु-दीर्यते—'भूतसन्धानभूतपृथक्त्वविश्वसंघट्टाः।' भूतानां सन्धानमिति भूतसन्धानं, भूतानि देहधीप्राणशून्यानि अर्थात् शरीरबुद्धिप्राणभावाद्यात्मकानि; तेषां सन्धानं क्वचिद् वृद्ध्यादौ, क्वचित्परिपोषणम्। एवं भूतानां पृथक्त्वं शरीरादेः व्याध्यादेः सकाशाद्

ईशान्यापूरणी ह्लादी वामा मूर्तिश्च ता मताः ।
अन्या विज्ञानदेहाख्या आसामेवानुगाः स्मृताः ।।
प्रक्रियादेहनिर्माणमासां संधानमुच्यते ।। ९० ।।
तस्मिन्सति शरीरस्य यस्य यस्य यथा स्थिता ।। ९१ ।।
स्यादुत्पत्तिस्तथा तिर्यङ्नरामरविलक्षणा ।
इत्थं कर्तृत्वमेवास्य सर्वत्राक्षय्यखण्डितम् ।। ९२ ।।
सत्यालोकेऽपि कार्यस्य क्षयित्वं च निरूपितम् ।। २० ।।

'दुर्बलोऽपि तदाक्रम्य यतः कार्ये प्रवर्तते ।
आच्छादयेद्बुभुक्षां च तथा योऽतिबुभुक्षितः ।।'

इति ।

'ग्लानिर्विलुण्ठिका देहे तस्याश्चाज्ञानतः सृतिः ।
तदुन्मेषविलुप्तं चेत्कुतः सा स्यादहेतुका ।।'

इति ।

'यथा ह्यर्थोऽस्फुटो दृष्टः सावधानेऽपि चेतसि ।
भूयः स्फुटतरो भाति स्वबलोद्योगभावितः ।।
तथा यत्परमार्थेन येन यत्र यथा स्थितम् ।
तत्तथा बलमाक्रम्य न चिरात्संप्रवर्तते ।।'

इत्यादिना विभूतिस्पन्दे सोपपत्तिकं दर्शितम् ।। २० ।।

विश्वस्य देशकालादिविप्रकृष्टस्य यत्पुनः ।
संघट्टश्चक्षुराद्यप्रत्यक्षीकरणादिकम् ।। ९५ ।।
एतत्सर्वं भवेच्छक्तिसंधाने सति योगिनः ।। २० ।।

विश्लेषणं; देशकालादितो विप्रकृष्टस्य दूरवर्त्तिनो च विश्वस्य संघट्टो, चक्षुराद्यक्षप्रत्यक्षीकरणम्; एते सर्वेऽपि पूर्वोक्तायाः शक्तेरनुसन्धाने सति योगिनो जायते। यदाहुः वसुगुप्तपादाः—

'दुर्बलोऽपि तदाक्रम्य यतः कार्य प्रवर्तते ।
आच्छादयेद् बुभुक्षां च तथा योऽतिबुभुक्षितः ।।' ३८ ।।

इति ।

'यथा ह्यर्थोऽस्फुटो दृष्टः सावधानेऽपि चेतसि ।
भूयः स्फुटतरो भाति स्वबलोद्योगभावितः ।।' ३२ ।।

इत्यादिना विभूतिस्पन्दे निरूपितम् ।। २० ।।

शुद्धविद्योदयाच्चक्रेशत्वसिद्धिः ॥ २१ ॥

विश्वात्मप्रथावाञ्छया यदा शक्तिं सन्धत्ते, तदा अहमेव सर्वम्—इति विश्वात्मकशुद्धविद्योदयात् स्वशक्तिचक्रेशत्वरूपं माहेश्वर्यमस्य सिद्ध्यति ॥ २१ ॥

स्वातन्त्र्यात्पुरस्यैव विभवप्रतिपादकम् ॥ ९३ ॥
अवोचद्भगवान्सूत्रं स्वेष्टक्रीडानिरूपितम् ।
शब्दशक्त्याद्यवयवैः खादिभूतविनिर्मितिः ॥ ९४ ॥
संधानमुक्तं तत्तेषां मूर्तिभेदविवक्षया ।
प्रतिभूतं च भूतं च स्वसत्तैक्यं विविक्तता ॥ ९५ ॥

यदा तु मितसिद्धीरनभिलष्यन् विश्वात्मप्रथामिच्छति तदा अस्य—वैश्वात्म्यप्रथावाञ्छया यदा शक्तिं संधत्ते तदा 'अहमेव सर्वम्' इति शुद्धविद्याया उदयात् विश्वात्मकस्वशक्तिचक्रेशत्वरूपं माहेश्वर्यमस्य सिद्ध्यति । तदुक्तं स्वच्छन्दे—

'तस्मात्सा तु परा विद्या यस्मादन्या न विद्यते ।
विन्दते ह्यत्र युगपत्सार्वज्ञ्यादिगुणान्परान् ॥

यदा परिमिताः सिद्धीरनिच्छन्पुनरिच्छति ॥ ९६ ॥
विश्वात्मताप्रथारूपां परां सिद्धिं, तदास्य तु ।
वैश्वात्म्यप्रथनाकाङ्क्षी सन्धत्ते शक्तिमात्मनः ॥ ९७ ॥
यदा योगी तदा तस्य सदाशिवपदस्पृशः ।
'ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः ॥ ९८ ॥

यदा तु महायोगी परिमितसिद्धीनामिच्छां न करोति तथा विश्वस्वरूपपरममाहेश्वरात्मकनिरवच्छिन्नप्रकाशम् अभिवाञ्छति तदा अस्य तत्स्वरूपत्वं सम्पद्यते इत्याह—'शुद्धविद्योदयाच्चक्रेशत्वसिद्धिः ।' यस्मिन् काले स योगी विश्वस्वरूपं प्रकाशमभिलषन् तादृच्छक्तेरनुसन्धानं करोति, तदा तु 'अहमेव सर्वमि'त्याकारात्मकं निर्मल ज्ञानस्य समुदयाद्विश्वस्वरूपस्वशक्तिचक्रेशत्वमनुत्तरात्मकमाहेश्वर्यमस्य सिद्ध्यति । यदुक्तम् ईश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्—

पृथक्त्वमुच्यते तद्धि कर्म्रंशप्रवरो यतः ।
वृत्त्याह्लादप्रकाशाख्यस्पर्शानुभवभूजुषः ॥ ९६ ॥
ज्ञेयौ ज्ञानक्रियेऽर्केन्दू यजमानस्य चिद्विभोः ।
चतसृभिस्तथात-विश्वसंघट्ट इष्यते ॥ ९७ ॥
प्रतिमूर्तिक्रियायोगं कचनं चिद्विभोरतः ।
एतावद्विश्वमेवेह यदष्टकसमागमः ॥९८॥२१॥

कथं सर्वस्य जगतः कारणं शक्तस्तथा ।
आत्मनस्तत्प्रभुत्त्वं स्यात्तदर्थं सूत्रमुक्तवान् ॥ ९९ ॥
शुद्धं निरुपधि ज्योतिः सर्वाभासावभासकम् ॥ १०० ॥

वेदनानादिधर्मस्य परमात्मत्वबोधना ।
वर्जनापरमात्मत्वे तस्माद्विद्येति सोच्यते ॥
'तत्रस्थो व्यञ्जयेत्तेजः परं परमकारणम् ।
परस्मिंस्तेजसि व्यक्ते तत्रस्थः शिवतां व्रजेत् ॥'

इति । तदेतत्--

'दिदृक्षयेव सर्वार्थान्यदा व्याप्यावतिष्ठते ।
तदा किं बहुनोक्तेन स्वयमेवावभोत्स्यते ॥'

इत्यनेनैव संगृहीतम् ॥ २१ ॥

सामानाधिकरण्यं च सद्विद्याहमिदंधियोः' ।
इति नीत्या जगत्सर्वमहमेवेति या मतिः ॥ ९९ ॥
सा शुद्धा निर्मला विद्या, तदीयादुदयात्स्फुटम् ।
उन्मज्जनात्स चिच्छक्तिमात्मनो नित्यमामृशेत् ॥ १०० ॥
यदा योगी, तदा तस्य चक्रेशत्वमनुत्तरम् ।
माहेश्वर्यं समावेशोत्कर्षात्सिद्ध्यति योगिनः ॥ १०१ ॥

'ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः ।
सामानाधिकरण्यं च सद्विद्यामिदं धियोः ॥'

इति नीत्या स्थावरजङ्गमात्मकविश्वं सर्वमहमेवेति या बुद्धिर्जायते, सा शुद्धा निर्मला विद्या अस्ति । निर्मलज्ञानमेव शुद्धविद्याशब्देन प्रकृतसूत्रे व्यवहृतम् ॥ २१ ॥

महाह्रदानुसन्धानान्मन्त्रवीर्यानुभवः ॥ २२ ॥

परा संविदेव स्वच्छत्वानावृतत्वगम्भीरत्वादिधर्मयोगात् महा-ह्रदः, तस्य अनुसंधानात् अन्तर्मुखतया अनारतं तत्तदात्म्यविमर्शनात्,

तस्यानन्तार्थस्रष्टृत्वात्परस्वातन्त्र्यधर्मिणः ।
वेदना वर्णिता विद्या सर्वाहंबोधरूपिणी ॥ १०१ ॥
तस्योदयस्तत्प्रथनं तस्माच्चक्रेशलक्षणा ।
सिद्धिर्भवति विश्वत्र माहेश्वर्यविकस्वरा ॥१०२॥२२॥

इत्थं सति कथं मन्त्रवीर्यसंविद्भवत्यतः ।
सूत्रमाह महावीर्यस्वरूपप्रतिपादकम् ॥ १०३ ॥
चिदात्मैव परः शुद्धः शक्तिमच्छक्तिविग्रहः ।
सृष्टिस्वभावो भावानामुद्भवे परमैव भूः ॥ १०४ ॥
दिक्कालकलनाहीनो ह्यनवच्छिन्नसंततिः ।
महाह्लदसमानत्वात्स महाह्लद उच्यते ॥ १०५ ॥
तदकृत्रिममाख्यातं बलमात्मनि तत्र च ।
हगानन्दारणीसारमध्यस्वरसलक्षण. ॥ १०६ ॥

यदा तु स्वात्मारामतामेव इच्छति तदा अस्य—
परा भट्टारिका संवित् इच्छाशक्तिप्रमुखं स्थूलमेयपर्यन्तं विश्वं वमन्ती, खेचरीचक्राद्यशेषवाहप्रवर्तकत्व-स्वच्छत्वानावृतत्व - गम्भीरत्वादिधर्मयोगा-

विश्वात्मकतदुत्तीर्णस्वात्मारामत्वमेव सः ।
इच्छति स्वच्छचिद्रूपो यदा योगी, तदास्य तु ॥ १०२ ॥
परा भट्टारिका संविदिच्छाशक्तिपुरःसरम् ।
स्थूलप्रमेयपर्यन्तं वमन्ती विश्वमान्तरन् ॥ १०३ ॥

यदा योगनिष्ठपुरुषः स्वात्मारामं वाञ्छति, तदा अस्य स्वस्वरूपेण स्फुरणं भवतीति दर्शयति—'महाह्लदानुसंधानान्मन्त्रवीर्यानुभवः ।' महाह्लदस्य अनुसन्धानेन योगी मन्त्रवीर्य-

मन्त्राणांवीर्यभूतस्य पूर्णाहन्ताविमर्शमयस्य महामन्त्रस्य अनुभवः स्वात्मरूपतया स्फुरणं भवति ।। २२ ।।

इति श्रीशिवसूत्रवृत्तौ शांभवोपायप्रकाशनं नाम प्रथम उन्मेषः ।। १ ।।

विकस्वरोन्मिषत्तात्पशाक्ताख्येन बलेन च ।
सोमांशे स्थैर्यलाभः स्यात्तदुदानप्रवेशनम् ।। १०७ ।।
अनुसंधानमेतत्तेन तत्र स्थितिर्यदा ।
तदा गर्भीकृताभीष्टवेद्याकारनिजस्थितिः ।। १०८ ।।
सम्यगुच्छूनतारूपोल्लसिताङ्कुररूपकः ।
प्रोन्मेषः सूक्ष्मवाग्रूपः सोऽनभिव्यक्तवर्णकः ।। १०९ ।।
ककारार्धवृत्तियोगाद्भवेन्मन्त्रोदयः स्फुटम् ।
स एव वीर्यानुभवो मान्त्रः साधकसिद्धिदः ।।११०।।२३।।

न्महाह्लदः; तस्यानुसंधानात्, अन्तर्मुखतया अनारतं तत्तादात्म्यविमर्शनात्; वक्ष्यमाणस्य शब्दराशिस्फारात्मकपरान्ताविमर्शमयस्य मन्त्रवीर्यस्यानुभवः, स्वात्मरूपतया स्फुरणं भवति । अत एव श्रीमालिनीविजये--

'या सा शक्तिर्जगद्धातुः...............।'

इत्युपक्रम्य इच्छादिप्रमुखश्चाद्भेदरूपतया मातृका-मालिनीरूपताम् अशेष-विश्वमयीं शक्तेः प्रदर्श्य, तत एव मन्त्रोद्धारो दर्शितः; इति परैव शक्ति-र्महाह्लदः; ततः तदनुसंधानात् मातृका-मालिनीसतत्त्वमन्त्रवीर्यानुभव इति युक्तमुक्तम् । एतदेव--

प्रमात्रन्तर्बहीरूपहृषीकविषयात्मनाम् ।
खेचर्यादिप्रवाहाणां बाह्याभ्यन्तररूपिणाम् ।। १०४ ।।
प्रवर्तकत्वात् स्वच्छत्वगम्भीरत्वादिधर्मतः ।
महाह्लदो जगद्व्यापी देशकालाद्यगोचरः ।। १०५ ।।

मनुभवति । महाह्लदत्वं संविदः, कथमस्याः महाह्लदत्वमित्युच्यते ? खेचर्यादिसमस्तप्रवाह-प्रवर्तकत्वेन, विश्वप्रतिबिम्बसहत्वेन निर्मलत्वात्; प्रतिबिम्बसहत्वेऽपि विश्वानावृत्वात्; दुर्लक्ष्यतया गभीरत्वात्, संविदो महाह्लदत्वेन सादृश्यं स्फुटमेव, एभिर्गुणैः सूत्रकारेण

सामान्यचित्प्रकाशैकस्वरूपप्रतिपाकम् ।
शिवसूत्रप्रकरणं समाप्तमिदमादिमम् ॥ १११ ॥
अतः परतरं मान्त्रं स्वरूपमुपवर्ण्यते ।
वक्ष्यमाणप्रकरणे विद्योदयसमन्वितम् ॥ ११२ ॥

इति श्रीमद्भट्टदिवाकरात्मज-श्रीमदाचार्य-भट्टभास्करविरचिते
शिवसूत्रवार्तिके सामान्यचित्प्रकाशस्वरूपनिरूपणाख्यः

प्रथमः प्रकाशः ॥ १ ॥

'तदाक्रम्य बलं मन्त्राः ... . ।'
इत्याद्युक्त्या भङ्ग्या प्रतिपादितम् ।

तदेवं 'चैतन्यमात्मा' (१-१) इत्युपक्रम्य तत्स्वातन्त्र्यावभासित-तदख्यातिमयं सर्वमेव बन्धं यथोक्तोद्यमात्मकभैरवसमापत्तिः प्रशमयन्ती, विश्वं स्वानन्दामृतमयं करोति, सर्वाश्च सिद्धीः मन्त्रवीर्यानुप्रवेशान्ता ददाति । इति शाम्भवोपायप्रथनात्मा अयं प्रथम उन्मेष उक्तः । अत्र तु

अन्तस्तस्यानुसन्धानात्तादात्म्यस्यावमर्शनात् ।
अकारादिक्षकारान्तशब्दराशिप्रथात्मनः ॥ १०६ ॥
क्षित्यादिशिवपर्यन्ततत्त्वान्तःक्षोभकारिणः ।
मन्त्रवीर्यस्य सर्वेषां मन्त्राणां प्राणरूपिणः ॥ १०७ ॥
पराहन्तापरामर्शमयस्यानुभवः स्फुटम् ।
अखिलं वाचकं वाच्यमहमित्यवमर्शनम् ॥ १०८ ॥
योगिनः सावधानस्य भवतीत्येव शिष्यते ।
स्फुटीकरोति संक्षेपात्तत्प्रमेयं पुरोदितम् ॥ १०९ ॥
महाह्रद इति प्रोक्ता शक्तिर्भगवती परा ।
अनुसन्धानमित्युक्तं तत्तादात्म्यविमर्शनम् ॥ ११० ॥

संविदो महाह्रदत्वमुक्तम् । अस्य महाह्रदस्य अनुसन्धानाद् अर्थात् अन्तर्मुखरूपेण निरन्तरं तत्तादात्म्यविमर्शनेन मन्त्रवीर्यस्य अनुभवो भवति । अयं भावः — वक्ष्यमाणशब्दराशि-स्फुरणकर्तृत्वात्मकपराहन्ताविमर्शमयस्य मन्त्रवीर्यस्य साक्षादनुभवेन निरन्तरं स्वात्मस्वरूपा योगिनः स्फुरणं भवति ॥ २२ ॥

मध्ये शक्तिस्वरूपमुक्तं, तत् शाम्भवरूपस्य शक्तिमत्तप्रदर्शनाभिप्रायेण इति शिवम् ।। २२ ।।

इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तपादपद्मोपजीवि-श्रीक्षेमराज-
विरचितायां शिवसूत्रविमर्शिन्यां शाम्भवोपायप्रकाशनं
नाम प्रथम उन्मेषः ।। १ ।।

मन्त्रवीर्यमिति प्रोक्तं पूर्णाहन्ताविमर्शनम् ।
तदीयोऽनुभवस्तस्य स्फुरणं स्वात्मनः स्फुटम् ।। १११ ।।

इति श्रीशाम्भवोपायप्रकाशनपरायणः ।
उन्मेषः प्रथमः सम्यक्स्वरूपोन्मेषलक्षणः ।। ११२ ।।

इति श्रीकृष्णदासापरपर्यायवरदराजविरचिते शिवसूत्रवार्तिके
शाम्भवोपायप्रकाशनं नाम प्रथम उन्मेषः ।। १ ।।

द्वितीय उन्मेषः

चित्तं मन्त्रः ॥ १ ॥

मन्त्रदेवताविमर्शपरत्वेन प्राप्ततत्सामरस्यम् आराधकचित्तमेव मन्त्रः ॥ १ ॥

उक्तक्रमेण शिवतां सर्वज्ञानक्रियावृतः ।
उपपाद्यात्मनस्तत्र मान्त्रं वीर्यं च यादृशम् ॥ १ ॥
पुनराहात्र वक्तव्यं मान्त्रं स्वं रूपमेव यत् ।
कोऽसौ मन्त्रो यस्य वीर्यं तदर्थं भगवानजः ॥ २ ॥

इदानीं शाक्तोपायः प्रदर्श्यते । तत्र शक्तिः मन्त्रवीर्यस्फाररूपा; इति प्रथमोन्मेषान्तसूत्रिततत्स्वरूपविवेचनपुरःसरमुन्मेषान्तरमारभमाणो मन्त्रस्वरूपं तावत् निरूपयति—–

चेत्यते विमृश्यते अनेन परं तत्त्वम् इति चित्तं, पूर्णस्फुरत्तासतत्त्व प्रासाद-प्रणवादिविमर्शरूपं संवेदनम्; तदेव मन्त्र्यते गुप्तम्, अन्तर् अभेदेन विमृश्यते परमेश्वररूपम् अनेन, इति कृत्वा मन्त्रः । अत एव च परस्फुर-

ईदृशं शाम्भवोपायं प्रदर्श्य परमेष्ठिना ।
इदानीमेतदन्तस्थशाक्तोपायः प्रदर्श्यते ॥ १ ॥

तत्र शक्तिर्महामन्त्रवीर्यविस्फाररूपिणी ।
इति प्राथमिकोन्मेषपर्यन्ते प्रकटीकृता ॥ २ ॥

तीव्रशक्तिपातवतां सुप्रबुद्धयोगिनां कृते शाम्भवोपायस्य तत्त्वपदेशक्रमोक्तम् । किन्तु मध्यमाधिकारिणोऽपि ज्ञानवन्तः भवेयुः, तस्मात् साम्प्रतं शाक्तानामुपायः प्रदर्श्यते । तत्र पूर्वस्मिन् प्रकरणे शक्तिः—परासंविच्छक्तिः पूर्णाहन्ता

चित्तमेव शिवो ज्ञेयः प्रमाता निरुपाधिकः ।
सर्वज्ञतादिगुणवान् दिक्कालकलनोज्झितः ॥ ३ ॥
स्वात्मानुभवधर्मित्वात्स मन्त्र इति गीयते ॥ १ ॥

तत्कथं योगिनां सिद्ध्येत्तदाह परमेश्वरः ।
चित्तरूपसमावेशो प्रयत्नोऽतिशयः स्मृतः ॥ ४ ॥

त्तात्मकमननधर्मात्मता, भेदमयसंसारप्रशमनात्मक-त्राणधर्मता च अस्य निरुच्यते ।

अथ च मन्त्रदेवताविमर्शपरत्वेन प्राप्ततत्सामरस्यम् आराधकचित्तमेव मन्त्रः, न तु विचित्रवर्णसंघट्टनामात्रकम् । यदुक्तं श्रीमत्सर्वज्ञानोत्तरे—

'उच्चार्यमाणा ये मन्त्रा न मन्त्रांश्चापि तान्विदुः ।
मोहिता देवगन्धर्वा मिथ्याज्ञानेन गर्विताः ॥'

इति । श्रीतन्त्रसद्भावेऽपि—

'मन्त्राणां जीवभूता तु या स्मृता शक्तिरव्यया ।
तया हीना वरारोहे निष्फलाः शरदभ्रवत् ॥'

6564

तत्स्वातन्त्र्यं विविच्यादावुन्मेषान्तरमान्तरम् ।
सम्यग्दर्शयता मन्त्रस्वरूपं तावदीर्यते ॥ ३ ॥
चेत्यतेऽनेन परमं स्वात्मतत्त्वं विमृश्यते ।
इति चित्तं स्फुरत्तात्मप्रसादादिविमर्शनम् ॥ ४ ॥
तदेव मन्त्र्यते गुप्तमभेदेन विमृश्यते ।
स्वस्वरूपमनेनेति मन्त्रस्तेनास्य दैशिकैः ॥ ५ ॥

मन्त्रवीर्यस्फाररूपेत्युक्तम्, अत्र कोऽसौ मन्त्रः ? इति जिज्ञासायां मन्त्रस्य स्वरूपं तावत् निरूपयति—'चित्तं मन्त्रः ।' चेत्यते—विचार्यते परतत्त्वमनेनेति चित्तम् अर्थात् अहं स्फुरत्तासतत्त्वतेजोविशेषप्रणवादिपरामर्शरूपं संवेदनम्; तदेव गोपनीयत्वरूपेण मन्त्र्यते—अन्तरनुसंधानात्मकाभेदरूपेण परमेश्वरस्य स्वरूपं विमृश्यते अनेनेति मन्त्रः । तथा चोक्तं—'स्वात्मानुभवधर्मित्वात् स मन्त्र इति गीयते ।' अत एव परस्फुरणस्वरूपमननधर्मता तथा भेदात्मकसंसारशान्तिरूपत्राणधर्मता अस्य उच्यते । मन्त्रदेवतास्मारकत्वेन संप्राप्तं यन्मन्त्रदेवताभिः सह ऐक्यमेवोक्तम् आराधकस्य चित्तमेव मन्त्रः, न तु विचित्रवर्णसमुदायात्मरूपः । यथोक्तम्—

पूर्वोक्तवीर्यवृत्त्यासौ पुनरुक्तनिभालनात् ।
स एव साधकस्तत्र प्रकृष्टः परिकीर्तितः ॥ ५ ॥

इति । श्रीश्रीकण्ठीयसंहितायां तु--

'पृथङ्मन्त्रः पृथङ्मन्त्री न सिद्ध्यति कदाचन ।
ज्ञानमूलमिदं सर्वमन्यथा नैव सिद्ध्यति ॥'

इत्युक्तम् । एतच्च स्पन्दे--

'सहाराधचित्तेन तेनैते शिवधर्मिणः ॥'

इति भङ्ग्या प्रतिपादिम् ॥ १ ॥

पूर्णाहन्तानुसंध्यात्मस्फूर्जन्मननधर्मता ।
संसारक्षयकृत्त्राणधर्मता च निरुच्यते ॥ ६ ॥
तन्मन्त्रदेवतामर्शप्राप्ततत्सामरस्यकम् ।
आराधकस्य चित्तं च मन्त्रस्तद्धर्मयोगतः ॥ ७ ॥

अस्य चोक्तस्य मन्त्रस्य मननत्राणधर्मिणः ।
उक्तमन्त्रानुसन्धानावष्टम्भोद्यन्तृतात्मकः ॥ ८ ॥

'उच्चार्यमाणा ये मन्त्रा न मन्त्रांश्चापि तान्विदुः ।
मोहिता देवगन्धर्वा मिथ्याज्ञानेन गर्विताः ॥'

तथा च श्रीतन्त्रसद्भावेऽपि कथितम्—

'मन्त्राणां जीवभूता तु या स्मृता शक्तिरव्यया ।
यथा हीना वरारोहे निष्कलाः शरदभ्रवत् ॥'

एवं मन्त्रिमन्त्रदेवतासु आराध्याराधकरूपेण भिन्नबुद्धिः सिद्धिं नैव प्राप्नोति । यतो हि मननत्राणरूपाः मन्त्राः ज्ञानशक्तौ अवस्थिताः वर्तन्ते, अत एव लब्धज्ञानशक्तिरूपमहावीर्याः समग्रसिद्धिप्रदायकाः भवन्ति । यदाहुः वसुगुप्तपादाः स्पन्दकारिकायाम्—

'तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः ।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनाम् ॥
तत्रैव संप्रलीयन्ते शान्तरूपा निरञ्जनाः ।
सहाराधकचित्तेन तेन ते शिवधर्मिणः ॥' २६-२७ ॥

अनुत्तरधाम्नः परमशिवस्य अनन्यसाधारणः सर्वकर्तृत्वज्ञातृत्वादिगुणो धर्मो विद्यते, अत एव एते मन्त्राः मननत्राणरूपाः, भगवति परमशिवेऽभिन्नतया स्थिताः ॥ १ ॥

प्रयत्नः साधकः ॥ २ ॥

अकृतको यः प्रयत्नः, स एव साधको मन्त्रयितुर्मन्त्रदेवता-तादात्म्यप्रदः ॥ २ ॥

चित्तत्त्वमात्मनः सिद्धं वक्ष्यमाणनयेन च ।
त्रिकसारे षट्सहस्रे शिवेनैव निरूपितम् ॥ ६ ॥
चिच्छक्तेः स्वस्वभावो यः स मन्त्रः परिगीयते ।
यन्नैरन्तर्यमननाद्योगी रूढशिवावनिः ।
यद्वशात्परमार्थज्ञा योगिनो योगचिन्तकाः ॥७॥२॥

अस्य च—

यथोक्तरूपस्य मन्त्रस्य अनुसंधित्साप्रथमोन्मेषावष्टम्भप्रयतनात्मा अकृतको यः प्रयत्नः स एव साधको, मन्त्रयितुर्मन्त्रदेवतातादात्म्यप्रदः । तदुक्तं श्रीतन्त्रसद्भावे—

'आमिषं तु यथा खस्थः संपश्यञ्शकुनिः प्रिये ।
क्षिप्रमाकर्षयेद्यद्वद्वेगेन सहजेन तु ॥
तद्वदेव हि योगीन्द्रो मनो बिन्दुं विकर्षयेत् ।
यथा शरो धनुःसंस्थो यत्नेनाताड्य धावति ॥
तथा बिन्दुर्वरारोहे उच्चारेणैव धावति ॥'

इति । अन्यत्रापि—

'तद्ग्रहो मन्त्रसद्भावः .... ।'

इति । अत्र हि तद्वत् इति, अकृतकनिजोद्योगबलेन योगीन्द्रो मनः कर्म,

प्रयत्नोऽन्तःस्वसंरम्भः स एव खलु साधकः ।
यतो मन्त्रयितुर्मन्त्रदेवतैक्यप्रदः स्मृतः ॥ ८ ॥ २ ॥

मननत्राणधर्मिभूतस्य उक्तमन्त्रस्य साधकं दर्शयति—'प्रयत्नः साधकः ।' प्राक्तन-मन्त्रस्वरूपस्य अनुसंधाने कोऽसौ प्रयत्नो भवेत् अर्थाद् अन्तरुद्योग स एव साधकः, यतो हि अयं प्रयत्नः साधकस्य मन्त्रदेवतया सार्धमैक्यं संपादयति । तस्मात् प्रयत्नस्य साधकत्व-समर्थनं सूत्रकाराणां शोभनमिवाभाति ॥ २ ॥

विद्याशरीरसत्ता मन्त्ररहस्यम् ॥ ३ ॥

विद्याशरीरस्य शब्दराशेः, सत्ता अशेषविश्वाभेदमयपूर्णाहं-विमर्शात्मा स्फुरत्ता, सा मन्त्राणां रहस्यम् उपनिषत् ॥ ३ ॥

एवमादिश्य भगवान्वाचकानां स्वरूपकम् ।
वाच्यवाचकयो रूपमभिन्नं भेदयोगि वा ॥ ८ ॥

बिन्दुं विकर्षयेत् परप्रकाशात्मतां प्रापयेत् इति । तथा बिन्दुः परप्रकाशः अकृतकोद्यन्तृतात्मना उच्चारेण धावति, प्रसरति इत्यर्थः । एतच्च स्पन्दे--

'अयमेवोदयस्तस्य ध्येयस्य ध्यायिचेतसि ।
तदात्मतासमापत्तिरिच्छतः साधकस्य या ॥'

इत्यनेनोक्तम् ॥ २ ॥

ईदृशसाधकसाध्यस्य मन्त्रस्य पूर्वोपक्षिप्तं वीर्यं लक्षयति--

विद्या पराद्वयप्रथा, शरीरं स्वरूपं, यस्य स विद्याशरीरो भगवान् शब्दराशिः; तस्य या सत्ता, अशेषविश्वाभेदमयपूर्णाहंविमर्शनात्मा स्फुरत्ता, सा मन्त्राणां रहस्यम्, उपनिषत् । यदुक्तं श्रीतन्त्रसद्भावे---

'सर्वे वर्णात्मका मन्त्रास्ते च शक्त्यात्मकाः प्रिये ।
शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका ॥'

इति । तत्रैव च अयमर्थः अतिरहस्योऽपि वितत्य स्फुटीकृतः । तथा च-

'न जानन्ति गुरुं देवं शास्त्रोक्तान्समयांस्तथा ।
दम्भकौटिल्यनिरता लौल्यार्थाः क्रिययोज्झिताः ॥

इदृक्साधकसाध्यस्य मन्त्रस्य प्रथमोदितम् ।
वीर्यं विस्तरतः सम्यग् वर्ण्यतेऽथ सलक्षणम् ॥ १० ॥
विद्येति परमाद्वैतसंप्रवेदनरूपिणी ।
शरीरं यस्य भगवान् शब्दराशिः स उच्यते ॥ ११ ॥

अथ अस्य मन्त्रस्य साधकसाध्यस्य पूर्ववर्णितं वीर्यंलक्षणप्रदर्शनद्वारा सविस्तरं सम्यक् प्रतिपाद्यते—'विद्याशरीरसत्ता मन्त्ररहस्यम् ।' सूत्रेऽस्मिन् घटकतया प्रविष्टा विद्या परमशिवेन सह अद्वैतप्रतिपत्तिरूपा ज्ञेया । यदीयं शरीरं भगवान् शब्दराशिः वर्तते ।

स्यात्तदर्थं प्राह सूत्रं स तदर्थप्रकाशकम् ।
शुद्धे चिन्मात्रतावेशादुन्मेषः सहसैव यः ।। ९ ।।

अस्मात्तु कारणाद्देवि मया वीर्यं प्रगोपितम् ।
तेन गुप्तेन ते गुप्ताः शेषा वर्णास्तु केवलाः ।।'

इति-पीठिकाबन्धं कृत्वा--

'या सा तु मातृका देवि परतेजःसमन्विता ।
तया व्याप्तमिदं विश्वं सब्रह्मभुवनान्तकम् ।।
तत्रस्थं च यदा देवि व्यापितं च सुरार्चिते ।
अवर्णस्थो यथा वर्णः स्थितः सर्वगतः प्रिये ।।
तथाहं कथयिष्यामि निर्णयार्थं स्फुटं तव ।'

इत्युपक्रम्य--

'या सा शक्तिः परा सूक्ष्मा निराचारेति कीर्तिता ।।
हृद्बिन्दुं वेष्टयित्वान्तः सुषुप्तभुजगाकृतिः ।
तत्र सुप्ता महाभागे न किञ्चिन्मन्यते उमे ।।
चन्द्राग्निरविनक्षत्रैर्भुवनानि चतुर्दश ।
क्षिप्त्वोदरे तु या देवी विषमूढेव सा गता ।।
प्रबुद्धा सा निनादेन परेण ज्ञानरूपिणा ।
मथिता चोदरस्थेन बिन्दुना वरवर्णिनि ।।
तावद्वै भ्रमवेगेन मथनं शक्तिविग्रहे ।
भेदात्तु प्रथमोत्पन्ना बिन्दवस्तेऽतिवर्चसः ।।
उत्थिता तु यदा तेन कला सूक्ष्मा तु कुण्डली ।
चतुष्कलमयो बिन्दुः शक्तेरुदरगः प्रभुः ।।
मथ्यमन्थनयोगेन ऋजुत्वं जायते प्रिये ।
ज्येष्ठाशक्तिः स्मृता सा तु बिन्दुद्वयसुमध्यगा ।।

तस्य सत्ता समस्ताध्वपूर्णाहन्तास्वरूपिणी ।
स्फुरत्ता सैव मन्त्राणां मननत्राणधर्मिणाम् ।। १२ ।।

समस्ताध्वनि पूर्णाहन्तारूपिणी तस्य सत्ता विद्यते । सा च सत्ता मननत्राणधर्मिणां स्फुरणत्वरूपा, रहस्यं च गुप्तानाम् अर्थस्वरूपाणां जननम् । अस्मिन्नर्थे क्षेमराजपादानां सम्मतिः तन्त्रसारसमुद्धृतवृत्तिभिः ज्ञायते । तथाहि—

स्वप्रकाशविकासाख्या सा विद्येति निरूपिता ।
शरीरसत्ता सा मान्त्री रहस्यं परमं च तत् ॥१०॥३॥

विन्दुना क्षोभमायाता रेखैवामृतकुण्डली ।
रेखिणी नाम सा ज्ञेया उभौ बिन्दू यदन्तगौ ॥
त्रिपथा सा समाख्याता रौद्री नाम्ना तु गीयते ।
रोधिनी सा समुद्दिष्टा मोक्षमार्गनिरोधनात् ॥
शशाङ्कशकलाकारा अम्बिका चार्धचन्द्रिका ।
एकैवेत्थं परा शक्तिस्त्रिधा सा तु प्रजायते ॥
आभ्यो युक्तवियुक्ताभ्यः संजातो नववर्गकः ।
नवधा च स्मृता सा तु नववर्गोपलक्षिता ॥
पञ्चमन्त्रगता देवि सद्य आदिरनुक्रमात् ।
तेन पञ्चविधा प्रोक्ता ज्ञातव्या सुरनायिके ॥
स्वरद्वादशगा देवि द्वादशस्था उदाहृता ।
अकारादिक्षकारान्या स्थिता पञ्चाशता भिदा ॥
हृत्स्था एकाणवा प्रोक्ता कण्ठे प्रोक्ता द्वितीयका ।
त्रिराणवा तु ज्ञातव्या जिह्वामूले सदा स्थिता ॥
जिह्वाग्रे वर्णनिष्पत्तिर्भवत्यत्र न संशयः ।
एवं शब्दस्य निष्पत्तिः शब्दव्याप्तं चराचरम् ॥'

इत्यादिना ग्रन्थेन परभैरवीयपरावाक्शक्त्यात्मकमातृका, अत एव ज्येष्ठा-

गुप्तार्थताया जननं रहस्यमिति कथ्यते ।
एतच्छ्रीक्षेमराजेन तन्त्रसारात्समुद्धृतैः ॥ १३ ॥
संवादैः संमतैः सम्यग्वर्णितं निजवृत्तिगैः ॥ ३ ॥

सम्यगेवंविधं मन्त्रवीर्यं येषां यथातथम् ॥ १४ ॥

'सर्वे वर्णात्मका मन्त्रास्ते च शक्त्यात्मकाः प्रिये ।
शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका ॥'

इति श्रीतन्त्रसद्भावे गूढरहस्योऽपि प्रकटीकृतः—

'न जानन्ति ······· । ········· वर्णास्तु केवलाः ॥'

इत्यादिना ॥ ३ ॥

गर्भे चित्तविकासोऽविशिष्टविद्या स्वप्नः ॥ ४ ॥

गर्भे मन्त्रसिद्धिप्रपञ्चे चित्तविकासः तावन्मात्रे सन्तोषः, सर्वजनसाधारणी विद्या किञ्चिज्ज्ञत्वरूपा अशुद्धविद्या, सैव स्वप्नो

एवं स्थिते रहस्येऽर्थे मन्त्ररूपे यथायथम् ।
एष्टव्यो देहिभिर्मान्त्र उदयः परमोदयः ॥ ११ ॥
कथं स्यादत्र च विभुः सूत्रमाह यथार्थवत् ।
प्रकाशानन्दसारान्तर्व्यावर्तनबलाद्भृशम् ॥ १२ ॥

रौद्री-अम्बाख्यशक्तिप्रसरसंभेदवैचित्र्येण सर्ववर्णोदयस्य उक्तत्वात्, वर्ण-संघट्टनाशरीराणां मन्त्राणां सैव भगवती व्याख्यातरूपा विद्याशरीरसत्ता रहस्यम्--इति प्रदर्शितम् । प्रत्यागमं च मातृकामालिनीप्रस्तारपूर्वकं मन्त्रोद्धारकथनस्य अयमेव आशयः । रहस्यागमसारसंग्रहरूपत्वात् शिव-सूत्राणाम् आगमसंवादे भरः अस्माभिः कृत; इति नास्मभ्यम् असूयि-तव्यम् । एवमपि संवादिते आगमे यदि रहस्यार्थो न बुद्ध्यते, तस्मात् सद्गुरुसपर्या कार्या । एष च सूत्रार्थः--

'तदाक्रम्य बलं मन्त्राः.................. ।'

इत्यनेन कारिकाद्वयेन स्पन्दे दर्शितः ॥ ३ ॥

येषां तु एवं-विधमेतन्मन्त्रवीर्यं प्रोक्तमहाह्रदानुसंधानौपयिकमपि परमेश्वरेच्छात एव न हृदयङ्गमीभवति; अपि तु आनुषङ्गिकमात्रबिन्दु-नादादिकलाजनितासु मितसिद्धिषु चित्तं रोहति, तेषाम्---

महाह्रदानुसंधानप्रकारावेदितं त्वपि ।
इच्छयैव महेशस्य हृदयंगमतां दृढम् ॥ १५ ॥
न गच्छत्यथ तुच्छायां चित्तं सिद्धौ प्ररोहति ।
बिन्दुनादादिजातायां, तेषां तु मितयोगिनाम् ॥ १६ ॥

महाह्रदानुसंधानोपायभूतं यत्पूर्वोक्तं मन्त्रवीर्यमस्ति, तदपि भगवतः परमेश्वरस्य इच्छावशादेव न हृदयङ्गमीभवति; अपि तु बिन्दुनादादिकलाजनितपरिमितसिद्धिषु चित्तमारोहति, एवं च तेषां कीदृशो चित्तविकासो भवतीति दर्शयति—'गर्भे चित्त-

भेदनिष्ठो विचित्रो विकल्पात्मा भ्रमः । तदुक्तं पातञ्जले—

'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः' (३–७) ।

इति ॥ ४ ॥

विषयेभ्यो निवृत्तस्य मनसश्चिन्मयी स्थितिः ।
परो विकासश्चिच्चन्द्रचन्द्रिकामृतनिर्भरः ॥ १३ ॥
स्रवच्छाक्तामृतापूराप्लुतानन्दिजगन्मयः ।
तत्सद्भावादविद्यायाः प्रथयन्त्या धरादिभिः ॥ १४ ॥

गर्भः अख्यातिर्महामाया; तत्र तदात्मके मितमन्त्रसिद्धिप्रपञ्चे यश्चित्तस्य विकासः, तावन्मात्रे प्रपञ्चे संतोषः; असावेव अविशिष्टा, सर्वजनसाधारणरूपा; विद्या, किञ्चिज्ज्ञत्वरूपा अशुद्धविद्या; सैव स्वप्नो, भेदनिष्ठो विचित्रो विकल्पात्मा भ्रमः । तदुक्तं पातञ्जले—

'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥' (३-३७)

इति । तदेतत्—

गर्भोऽख्यातिर्महामाया तन्मये सिद्धिसंचये ।
विकासो नाम चित्तस्य तावन्मात्रे कृतार्थता ॥ १७ ॥

विकासोऽविशिष्टविद्यास्वप्नः ।' गर्भो नाम अख्यातिः अर्थात् माहामाया; तत्र तद्रूपे परिमितमन्त्रसिद्धिविस्तारे चित्तस्य यो विकासस्तावन्मात्र एव संतोषो भवति, इयमेव सर्वजनसाधारणरूपा अविशिष्टा विद्या—किञ्चिज्ज्ञत्वरूपा अशुद्धविद्या; सैव स्वप्नो, भेदोत्पादकरूपो विचित्रो विकल्पात्मा भ्रमोऽस्ति । यदुक्तं स्पन्दकारिकायाम्—

'अतो बिन्दुरतो नादो रूपमस्मादतो रसः ।
प्रवर्तन्तेऽचिरेणैव क्षोभकत्वेन देहिनः ॥'

अत एव बिन्दुः—अविभक्तः शिवप्रकाश । 'भ्रूमध्यादौ प्रदेशे ध्यानाभ्यासप्रकर्षेण प्रवर्धमानोत्तरोत्तर तेजोविशेष.—भ्रूमध्यस्थाने ध्यानाभ्यासात् पृथिवीतत्त्वध्यायिनां योगिनां तेजोविशेषोऽभिव्यज्यते । नादः—प्रणवरूपध्वनिविशेषः, यमाकाशतत्त्वाभ्यासशीलयोगिनः शृण्वन्ति । रूपं-घनीभूतान्धकाराद्यावृतेऽपि सति तत्तद्दृश्यवस्त्वाकारदर्शनं जायते । रसो रसात्मकभोग्यपदार्थस्य अभावेऽपि मुखे अमृतास्वादः अप्तत्त्वधायिभिर्यः प्राप्यते । तथा वायुतत्त्वधायिनां योगिनां स्पर्शानन्दानुभवोऽपि अस्मादेव

विद्यासमुत्थाने स्वाभाविके खेचरी शिवावस्था ॥ ५ ॥

पराद्वयप्रथारूपशुद्धविद्योदये, खे बोधगगने चरति इति खेचरी मुद्रा अभिव्यज्यते ॥ ५ ॥

तत्त्वजालैरलंग्रासयुक्त्या स्वप्नो विलोपनम् ।
तदेवं सति विद्यैव यथावत्प्रतिपादिता ॥ १५ ॥
सोपायेयमतः सर्वमन्त्रमुद्रास्वरूपिणी ॥ ४ ॥

मान्त्रं वीर्यं तत्स्वरूपं तद्विमर्शं तथोदयम् ॥ १६ ॥
प्रतिपाद्य पुनर्मुद्रावीर्यार्थं प्राह शंकरः ॥
स्वालोकलक्षणा शुद्धा यैव विद्या निरूपिता ॥ १७ ॥

'अतो बिन्दुरतो नादो रूपमस्मादतो रसः ।
प्रवर्तन्तेऽचिरेणैव क्षोभकत्वेन देहिनः ॥'

इत्यनेन दर्शितम् ॥ ४ ॥

यदा तु आगतामपि मितसिद्धिं खिलीकृत्य परामेव स्थितिमवष्टभ्नाति योगी ततः--

सैवाविशिष्टा विद्येति किंचिज्ज्ञत्वस्वरूपिणी ।
अशुद्धविद्या सा स्वप्नो विकल्पप्रत्ययात्मकः ॥ १८ ॥ ४ ॥

आगता अपि ताः सिद्धीः खिलीकृत्य यदा पुनः ।
अवष्टभ्नात्यसौ योगी परां सिद्धिं तदाश्नुते ॥ १९ ॥

जायते । योगिना तु समाहितचित्तेन संप्राप्तसिद्धिभ्योऽपि विरक्तव्यम् आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिकात्मकतापत्रयोत्पत्तिकशान्तिरूपमोक्षाख्यपरमपुरुषार्थः स खलु अयं निरुत्तरपदारोहप्रत्यहभूतासु सिद्धिसु विरज्येत ॥ ४ ॥

यदा प्राप्तामपि परिमितसिद्धिमुपेक्ष्य परां स्थितिं योगी अनुसंधत्ते, ततः स शिवावस्थां समधिगच्छतीति वर्णयति—'विद्यासमुत्थाने स्वाभाविके खेचरी शिवस्था ।'

समुत्थाने तदुदयो यथावत्प्रागुदीरितम् ।
स्वाभाविकं स्यात्सहजं बलमात्मन्यकृत्रिमम् ॥ १८ ॥
तदेवं सति तस्मिंस्तन्मुद्रावीर्यं विजृम्भते ।
खेचरी सा शिवावस्था शिवव्योम्न्युदिता यतः ॥ १९ ॥
खे स्वचिद्गगनाभोगे चरणात्खेचरीति सा ।
ध्येयानुकारतादात्म्यप्रतिपत्त्युदयात्मिका ॥ २० ॥

प्राङ्निर्दिष्टसतत्त्वाया विद्यायाः स्वाभाविके समुत्थाने, परमेशेच्छा-मात्रघटिते मितसिद्धिन्यग्भाविनि सहजे समुन्मज्जने; खे बोधगगने चरति इति खेचरी मुद्रा अभिव्यज्यते। कीदृशी खेचरी, शिवस्य चिन्नाथस्य अवस्थातुः संबन्धिनी अवस्था, स्वानन्दोच्छलत्तारूपा। न तु—

'बद्ध्वा पद्मासनं योगी नाभावक्षेश्वरं न्यसेत् ।
दण्डाकारं तु तावत्तन्नयेद्यावत्कखत्रयम् ॥
निगृह्य तत्र तत्तूर्णं प्रेरयेत् खत्रयेण तु ।
एतां बद्ध्वा महायोगी खे गतिं प्रतिपद्यते ॥'

इत्येवं संस्थानविशेषानुसरणरूपा; अपि तु—

'..परम् ।
गतिमेत्यर्थभावेन कुलमार्गेण नित्यशः ॥
चरते सर्वजन्तूनां खेचरी नाम सा स्मृता ।'

विद्यायाः प्राक्समाख्यातरूपायाः शंकरेच्छया ।
स्वाभाविके समुत्थाने समुल्लासे स्वभावजे ॥ २० ॥
उन्मज्जने सति क्षुद्रसिद्धिमज्जनतत्परे ।
अवस्था या शिवस्यान्तरवस्थातुरभेदिनी ॥ २१ ॥

विद्यासमुत्थाने—विद्यायाः पूर्वत्रदर्शिततत्त्वप्रवणायाः समुत्थाने सति—परमेश्वरसंकल्पयुक्ते परिमितिसिद्धितिरस्कारभाविनी स्वभावतः समुज्जृम्भणे सति शिवावस्थारूपिणी खेचरी मुद्रा अभिव्यज्यते। खे चरतीति खेचरी अथवा खे-ज्ञानगगने चरति गच्छतीति खेचरी मुद्रा। मुदं राति ददातीति मुद्रा। यदा खेचरी मुद्रा अभिव्यज्यते, तदा योगिनोऽसीमा-नन्दानुभवो जायते, इयमेव शिवावस्था तस्य। यदुक्तं—

अत एव शिवावस्था स्वरूपावेशशालिनी ॥ ५ ॥

एवं मौद्रं च मान्त्रं च वीर्यं स्यादेकरूपकम् ॥ २१ ॥
कार्यभेदाद्भेदयोगि बाह्यार्थप्रतिपत्तितः ।
अतो मुद्रामान्त्रवीर्यव्याप्त्युपायार्थमाह च ॥ २२ ॥

इति—श्रीतन्त्रसद्भावनिरूपितपरसंवित्तिस्वरूपा । एवमिह भेदात्मक-मायीयसमस्तक्षोभप्रशान्त्या चिदात्मकस्वरूपोन्मज्जनैकरूपं मन्त्रवीर्यं मुद्रा-वीर्यं च आदिष्टम् । तदुक्तं कुलचूडामणौ—

'एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
द्वावेतौ यस्य जायेते सोऽतिशान्तपदे स्थितः ॥'

इति । स्पन्दे तु मन्त्रवीर्यस्वरूपनिरूपणेनैव मुद्रावीर्यं संगृहीतम् ।

'यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम् ।'

इत्यर्धेन अन्यपरेणापि चूडामण्युक्तं खेचरीस्वरूपं भङ्ग्या सूचितम् ॥ ५ ॥

स्फुरत्ता सैव संपूर्णस्वानन्दोच्चलनात्मिकाम् ।
मुदं रातीत्यतो मुद्रा खेचरी च नभश्चरी ॥ २२ ॥
व्यज्यते योगिनो विश्वग् विश्वोत्तीर्णस्वरूपिणः ॥ ५ ॥

एवंप्रभावयोर्वीर्यासादने मंत्रमुद्रयोः ॥ २३ ॥
सम्यग्ज्ञानक्रियाप्राणमन्त्रमुद्रायथास्थितिम् ।
गृणात्युपदिशत्यर्थं तद्वीर्यं चेत्यतो गुरुः ॥ २४ ॥

ध्येयानुकारतादात्म्यप्रतिपत्त्युदयात्मिका ।
अत एव शिवावस्था स्वरूपावेशशालिनी ॥'

योगनिष्ठपुरुषः यथा संविदाकाशे चरति सा खेचरी मुद्रा विद्यते । सा खेचरी मुद्रा साक्षात् शिवावस्थैव अस्ति । अत एव मुद्रा मन्त्रवीर्ययोर्मायीयसमग्रक्षोभोपशमेन संवित्प्रकाशात्मकस्वरूपोन्मज्जनैकलक्षणमवस्थासाम्यं वर्तते, किन्तु केवलं बाह्यार्थप्रतिपत्तौ कार्यभेदेन वस्तुनः पृथग्रूपता अनुभूयते ॥ ५ ॥

गुरुरुपायः ॥ ६ ॥

तदत्र मुद्रामन्त्रवीर्यासादने ॥ ६ ॥

प्राप्तावत्र गुरुः शक्तिरुपायः परमः स्मृतः ।
यतः सा शाम्भवी शक्तिरनुग्रहकरी सदा ॥ २३ ॥
उत्पाताद्रक्षितो जन्तुः क्रियते भवनिस्पृहः ।
तदधिष्ठितदेहोऽसौ नीयते सद्गुरुं प्रति ॥ २४ ॥
वक्तृत्वात्तात्त्विकार्थानामुपेयपदलम्भनात् ।
गुरुरौन्मनसे धाम्नि विश्रान्तिपथदर्शकः ॥ २५ ॥ ६ ॥

तदत्र मुद्रामन्त्रवीर्यासादनेऽपि--

गृणाति उपदिशति तात्त्विकमर्थमिति गुरुः; सोऽत्र व्याप्तिप्रदर्शकत्वेन उपायः । तदुक्तं श्रीमालिनीविजये--

'स गुरुर्मत्समः प्रोक्तो मन्त्रवीर्यप्रकाशकः ।'

इति । स्पन्दे तु एवमादिप्रसिद्धत्वात् न संगृहीतम् ।

'अगाधसंशयाम्भोधिसमुत्तरणतारिणीम् ।
वन्दे विचित्रार्थपदां चित्रां तां गुरुभारतीम् ॥'

स एव मन्त्रमुद्राणां वीर्यंव्याप्तिप्रकाशनात् ।
उपायः कथ्यते साक्षादुपेयं परमं प्रति ॥ २५ ॥
यद्वा गुरुः परा शक्तिरीश्वरानुग्रहात्मिका ।
अवकाशप्रदानेन सैव यायादुपायताम् ॥ २६ ॥ ६ ॥

यद्यपि मौद्रं मान्त्रं च सामर्थ्यमेकरूपमेव तथापि कार्यभेदात् बाह्यार्थप्रतिपत्त्यानुसारेण भिन्नमिवाभाति । अतो मुद्रामान्त्रप्राप्त्युपायस्वरूपं निर्दिशति—'गुरुरुपायः ।' मुद्रादिवीर्यप्राप्त्यर्थं सर्वश्रेष्ठरूपायो गुरुं अर्थात् गुरुशक्तिरेव तादृशमुद्रादिवीर्य लाभार्थं गुरुशक्तेः ऋते नास्ति कश्चन उपायः । गुरुशक्तिस्तु तावत् शांभवीशक्तिः वर्तते । स एव निरन्तरमनुग्रहं करोति । उत्पातात् रक्षितो जीवः संसारं प्रति निस्पृहो—विरक्तो भवति । वैराग्यमुपगतो देहो सद्गुरुं प्रति बलात् सन्निहितो भवति । तात्त्विकार्थानां निरूपणाद् उपेयपदवर्णनाच्च गुरुः मनसाऽतीतं परमधाम्नि शिवे विश्रान्त्यर्थं मार्गदर्शनमपि कारयति ॥ ६ ॥

मातृका चक्रसम्बोधः ॥ ७ ॥

अनुत्तरानन्देच्छेशनोन्मेषोनतादितत्त्वप्रदर्शनेन चिदानन्दघन-स्वस्वरूपसमावेशमयः सम्यक् बोधो भवति । तस्मात् गुरोः प्रसन्नात् शिष्यस्य भवति इति शेषः ॥ ७ ॥

एवं गुरौ प्रसन्ने तु किं भवेत्तत्प्रदर्श्यते ।
स्वाभासा मातृका ज्ञेया क्रियाशक्तिः प्रभोः परा ॥ २६ ॥
तस्याः कलासमूहो यस्तच्चक्रमिति कीर्तितम् ।
तस्य सम्यक् परिज्ञानं यत्संबोधः स इष्यते ॥ २७ ॥
सति तेन विवर्तो यो वाच्यवाचकलक्षणः ।
क्रियाशक्त्युदितत्वात्स भिन्नोऽभिन्नः सदायतः ॥ २८ ॥

इति-पार्यन्तिकोक्त्या च एतदपि संगृहीतमेव ।

गुरुर्वा पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्तिः । यथोक्तं श्रीमालिनीविजये—

'शक्तिचक्रं तदेवोक्तं गुरुवक्त्रं तदुच्यते ।'

इति । श्रीमन्त्रिशिरोभैरवेऽपि—

'गुरोर्गुरुतरा शक्तिर्गुरुवक्त्रगता भवेत् ।'

इति । सैव अवकाशं ददती उपायः ॥ ६ ॥

तस्माद्गुरोः प्रसन्नात्—

शिष्यस्य भवतीति शेषः । श्रीपरात्रिंशकादिनिर्दिष्टनीत्या अहं-विमर्शप्रथमकला अनुत्तराकुलस्वरूपा, प्रसरन्ती आनन्दस्वरूपा सती, इच्छे-शनभूमिकाभासनपुरःसरं, ज्ञानात्मिकामुन्मेषदशां ज्ञेयाभासासूत्रणाधिक्येन

'स गुरुर्मत्समः प्रोक्तो मन्त्रवीर्यप्रकाशकः ।'
'आदिमान्त्यविहीनास्तु मन्त्राः स्युः शरदभ्रवत् ॥ २७ ॥
गुरोर्लक्षणमेतावदादिमान्त्यं च वेदयेत् ।'
इति श्रीमालिनीशास्त्रसिद्धातन्त्रोक्तवैभवात् ॥ २८ ॥

प्रसन्नतामुपगते गुरौ किं स्यात् ? तत्सर्वं प्रदर्श्यते—'मातृकाचक्र संबोध ।' प्रभोः परमशिवस्य स्वाभासयुक्ता मातृका क्रियाशक्तिस्वरूपा ज्ञेया, तस्याः यः कलासमूहो वर्तते

नित्योदितानस्तमितप्रकाशवपुषः पुरा ।
वीर्यौन्मुख्यात्प्रभोरिच्छाशक्तेः समुदयो भवेत् ।। २९ ।।
ततः संवेदनस्पर्शौ प्रादुर्भूतौ ततः पुनः ।
सर्वार्थप्रतिभासश्च ततो ध्वनिरनाहतः ।। ३० ।।

च ऊनतां प्रदर्श्य, इच्छामेव द्विरूपां विद्युद्विद्योतनकल्पतेजोमात्ररूपेण, स्थैर्यात्मना च एषणीयेन रञ्जितत्वात् र-लश्रुत्या आरूषितेन, अत एव स्वप्रकाशात्मीकृतमेयाभासत्वतः अमृतरूपेण, मेयाभासारूषणमात्रतश्च बीजान्तरप्रसवासमर्थतया, षण्ढाख्यबीजचतुष्टयात्मना रूपेण प्रपञ्च्य, प्रोक्तानुत्तरानन्देच्छासंघट्टेन त्रिकोणबीजम्, अनुत्तरानन्दोन्मेषयोजनया च क्रियाशक्त्युपगमरूपमोकारं, प्रोक्तैतद्बीजद्वयसंघट्टेन षट्कोणं शूलबीजं च, इच्छाज्ञानशक्तिव्याप्तपूर्णक्रियाशक्तिप्रधानत्वात् शक्तित्रयसंघट्टनमयं प्रदर्श्य, इयत्पर्यन्तविश्वैकवेदनरूपं बिन्दुमुन्मील्य, युगपदन्तर्बहिर्विसर्जन-मयबिन्दुद्वयात्मानं विसर्गभूमिमुद्दर्शितवती, अत एव अन्तर्विमर्शनेन अनुत्तरे एव एतद्विश्वं विश्रान्तं दर्शयति, बहिर्विमर्शेन तु कादि-मान्तं पञ्चकपञ्चकं अ-इ-उ-ऋ-ऌशक्तिभ्यः पुरुषान्तं मपर्यन्तं समस्तं प्रपञ्चयति । एकैकस्याश्च

अकृत्रिमाहमामर्शस्वरूपाद्यन्तवेदकात् ।
परमेष्ठिसमात्तस्मात्परमोपायतो गुरोः ।। २९ ।।
मन्त्रमुद्रानुसंधानसन्ततोद्युक्तचेतसः ।
भवत्युक्तगुरोः प्रीतात्साधकस्येति शिष्यते ।। ३० ।।
'अथाद्यास्तिथयः सर्वे स्वरा बिन्द्ववसानगाः ।
तदन्तः कालयोगेन सोमसूर्यौ प्रकीर्तितौ ।। ३१ ।।
पृथिव्यादीनि तत्त्वानि पुरुषान्तानि पञ्चसु ।
क्रमात्कादिषु वर्गेषु मकारान्तेषु सुव्रते ।। ३२ ।।
वाय्वग्निसलिलेन्द्राणां धारणानां चतुष्टयम् ।
तदूर्ध्वे शादि विख्यातं पुरस्ताद्ब्रह्मपञ्चकम् ।। ३३ ।।
अमूला तत्क्रमाज्ज्ञेया क्षान्ता सृष्टिरुदाहृता ।
सर्वेषां चैव मन्त्राणां विद्यानां च यशस्विनि ।। ३४ ।।

तच्चक्रं ज्ञेयम् । तस्य चक्रस्य सम्यक् परिज्ञानं यदा भवति, तदा तु वाच्यवाचकरूपो विवर्तोऽभिव्यज्यते । क्रियाशक्ते उदयेन स विवर्तः भिन्नोऽभिन्नस्य भवति । निरन्तरमग्रे

पदवाक्यार्थगर्भः स्यात्ततः प्राणात्मिका क्रिया ।
पञ्चाशद्वर्णगर्भा वाक् ततः सर्वस्य संभवः ॥ ३१ ॥

शक्ते, पञ्चशक्तित्वमस्ति, इत्येकैकतः पञ्चकोदयः। आभ्य एव शक्तिभ्यः शिक्षोक्तसंज्ञानुसारेण अन्तः-पुंभूमौ नियत्यादिकञ्चुकत्वेन अवस्थानात् अन्तस्थाख्यान्प्रमातृभूमिधारणेन विश्वधारणात् धारणाशब्देन आम्नायेषु उक्तान्, तदुपरि भेदविगलनेन अभेदापत्त्या उन्मिषितत्वात् ऊष्माभिधानान् चतुरो वर्णानाभासितवती । अत्र च अन्ते सर्वसृष्टिपर्यन्तवर्ति परिपूर्णममृतवर्णं प्रदर्श्य, तदन्ते प्राणबीजप्रदर्शनं कृतम्; तत् अनुत्तरशक्त्याप्यायितानाहतमयम्, इयद्वाच्यवाचकरूपं षडध्वस्फारमयं विश्वम्; इति प्रत्यभिज्ञापयितुम्। अत एव प्रत्याहारयुक्त्या अनुत्तरानाहताभ्यामेव शिवशक्तिभ्यां गर्भीकृतम् एतदात्मकमेव विश्वम्; इति महामन्त्रवीर्यात्मनोऽहंविमर्शस्य तत्त्वम्। यथोक्तमस्मत्परमेष्ठिश्रीमदुत्पलदेवपादैः--

इयं योनिः समाख्याता सर्वतन्त्रेषु सर्वदा।'
इति श्रीत्रीशिकाशास्त्रप्रोक्तन्यायेन मातृका ॥ ३५ ॥
अकारादिविसर्गान्तस्वरषोडशगर्भिणी ।
अत एवादिबिन्द्वन्तदशपञ्चतिथिक्रमा ॥ ३६ ॥
तदात्मकतदुत्तीर्णबिन्दुद्वन्द्वविभूषिता ।
अत एव जगत्सर्वं सृजत्यन्तरनुत्तरे ॥ ३७ ॥
तत्पंचदशकस्यान्तरुद्धृतैः पंचभिः स्वरैः ।
अ-इ-उ-ऋ-लृविन्यासैः कादिमान्तं च वाचकम् ॥ ३८ ॥
क्षित्यादिपुरुषान्तं च वाच्यं तत्त्वकदम्बकम् ।
पंचपंचकभेदेन पंचपंचजृम्भितम् ॥ ३९ ॥
बहिश्चानुत्तरादेव सृजती विश्वमीदृशम् ।
वाय्वग्निसलिलेन्द्राणां क्रमाद् य-र-ल-वात्मनाम् ॥ ४० ॥
अनुत्तरेच्छोन्मेषाख्यत्रितयान्योन्यसंधितः ।
किंचानुत्तरषण्ढाख्यद्वयसंधिवशादपि ॥ ४१ ॥

उदितानस्तमितप्रकाशशरीरस्य प्रभोरिच्छाशक्तेः समुदयो जायते, तदनन्तरं संवेदनस्पर्शौ प्रादुर्भूतौ, तदनन्तरं सर्वार्थप्रतिभासः, अनन्तरम् अनाहतो ध्वनिः, स च पदवाक्यार्थगर्भः, अनन्तरं प्राणात्मिका क्रिया, तदनन्तरं पञ्चाशद्वर्णयुक्ता वाक्, तत एव समग्रप्रपञ्चा-

मन्त्रादिवस्तुजातस्य मूलमेकं ततः स्मृता ।
मातृकैव क्रियाशक्तिः शिवस्येत्थं विजृम्भते ।। ३२ ।।

'प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः ।
उक्ता सैव च विश्रान्तिः सर्वापेक्षानिरोधतः ।।
स्वातन्त्र्यमथ कर्तृत्वं मुख्यमीश्वरतापि च ।'

इति । तदियत्पर्यन्तं यन्मातृकायास्तत्त्वं तदेव ककार-सकारप्रत्याहारेण अनुत्तरविसर्गसंघट्टसारेण कूटबीजेन प्रदर्शितमन्ते; इत्यलं रहस्यप्रकटनेन । एवं विधायाः--

'..................... न विद्या मातृकापरा ।'

इत्याम्नायसूचितप्रभावाया मातृकायाः संबन्धिनश्चक्रस्य प्रोक्तानुत्तरानन्दे-च्छादिशक्तिसमूहस्य चिदानन्दघनस्वस्वरूपसमावेशमयः सम्यक् बोधो भवति । एतच्चेह दिङ्मात्रेणोट्टङ्कितम् । विततं तु अस्मत्प्रभुपादैः श्रीपरा-त्रिंशकाविवरण-तन्त्रालोकादौ प्रकाशितम् । उक्तं च श्रीसिद्धामृते--

'सात्र कुण्डलिनी बीजजीवभूता चिदात्मिका ।
तज्जं ध्रुवेच्छोन्मेषाख्यं त्रिकं वर्णास्ततः पुनः ।।
आ इत्यवर्णादित्यादि यावद्वैसर्गिकी कला ।
ककारादिसकारान्ताद्विसर्गात्पञ्चधा स च ।।

उत्थितानां कलाविद्यामायारागाभिधायिनाम् ।
स्वरूपगोपनात्सर्वकर्तृत्वाद्यपरासतः ।। ४२ ।।
खण्डितस्य पशोः किंचित्कर्तृत्वादिप्रदायिनाम् ।
मायोर्ध्वशुद्धविद्यादितत्त्वारोहनिरोधनात् ।। ४३ ।।
मूलादधोऽवरोहस्य निरोधाच्च त्रिशङ्कुवत् ।
मध्ये संस्थापितस्यास्य धारणाद्धारणात्मनाम् ।। ४४ ।।
'यतिस्तु भावाभावानां व्यवस्थोदयदायिनी ।
कालोऽपि तां महामायां स्वतन्त्रामनुवर्तते ।।' ४५ ।।
इत्युक्त्या कालनियतियुक्तत्वात् षड्विधात्मनाम् ।
स्फारयन्ती वपुः यश्चात्तदूर्ध्वं शादिपंचकम् ।। ४६ ।।

प्रपञ्चात्मकविश्वस्य उत्पत्तिर्भवति । एतेन मन्त्रादिवस्तुसमूहस्य मातृकैव एकमात्रकारणं विद्यते, सैव अनुत्तरमूर्तेः शिवस्य क्रियाशक्तिः, तस्याः मातृकाचक्रस्य सम्यक् परिज्ञाने सति प्रबुद्धो योगी यद्यद् वक्ति तत्सर्वं मन्त्रेन्द्ररूपतां प्राप्नोति ।। ७ ।।

शरीरं हविः ॥ ८ ॥

सर्वैः यत् प्रमातृत्वेन अभिषिक्तं स्थूलसूक्ष्मादिरूपं शरीरं, तत्

मातृकाचक्रसंबोध एवं जातो यदा तदा ।
यद्यद्वक्ति प्रबुद्धः सन्प्रभुर्मन्त्रेन्द्रतामियात् ॥३३॥७॥

इत्थं प्रज्वालिते मान्त्रे तेजसि प्रज्वलत्यलम् ॥
कामं पुनर्भवकरं वपुस्तत्राह शंकरः ॥ ३४ ॥

बहिश्चान्तश्च हृदये नादेऽथ परमे पदे ।
बिन्दुरात्मनि मूर्धान्ते हृदयाद्व्यापको हि सः ॥
आदिमान्त्यविहीनास्तु मन्त्राः स्युः शरदभ्रवत् ।
गुरोर्लक्षणमेतावदादिमान्त्यं च वेदयेत् ॥
पूज्यः सोऽहमिव ज्ञानी भैरवो देवतात्मकः ।
श्लोकगाथादि यत्किञ्चिदादिमान्त्ययुतं यतः ॥
तस्माद्विदंस्तथा सर्वं मन्त्रत्वेनैव पश्यति ।'

इति । एतच्च स्पन्दे--

'सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी ।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ॥'

इत्यनेनैव भङ्ग्या सूचितम् ॥ ७ ॥

सद्योजातादिकेशानपर्यन्तब्रह्मविग्रहम् ।
सूक्ष्मरूपमहीवारिवह्निवायुनभोमयम् ॥ ४७ ॥
क्रमेण शुद्धविद्येशसादशक्तिशिवात्मकम् ।
विस्फारयन्ती स्वान्तःस्थं विसर्गकलया बहिः ॥ ४८ ॥
कादिसान्ताक्षरान्तस्थः क्षकारोऽप्यन्तिमो यतः ।
अतोऽकारहकाराभ्यामहमित्यपृथक्तया ॥ ४९ ॥
प्रपञ्चं शिवशक्तिभ्यां क्रोडीकृत्य प्रकाशते ।
अस्यास्त्वेवंप्रभावायाश्चक्रं यत्तदिहोदितम् ॥ ५० ॥
अनुत्तरेच्छोन्मेषादिस्पन्दशक्तिकदम्बकम् ।
तत्संबोधश्चिदानन्दघनस्वात्मानुसंहितिः ॥ ५१ ॥ ७ ॥

महायोगिनः परस्मिन् चिदग्नौ हूयमानं हविः ॥ ८ ॥

ज्ञानानले प्रज्वलिते मन्त्रतादात्म्यलक्षणे ।
शरीरं प्रगलत्येव भौतिकं कर्मबन्धनम् ॥ ३५ ॥
हविर्भूतमतश्चाथ दिव्यदेहाश्रयाद्यतः ॥
एष एव परो देहो यजमानस्य चिद्विभोः ॥ ३६ ॥
निरर्गले महासत्त्वे नित्योदितमहानले ।
यदर्पणं शरीरादेर्भावजातस्य सर्वदा ॥३७॥८॥

ईदृशस्य अस्य मातृकाचक्रसंबोधवतः——

सर्वैर्यत्प्रमातृत्वेन अभिषिक्तं स्थूलसूक्ष्मादिस्वरूपं शरीरं तत् महायोगिनः परस्मिन् चिदग्नौ हूयमानं हविः, शरीरप्रमातृताप्रशमनेन सदैव चिन्मातृताभिनिविष्टत्वात् । यदुक्तं श्रीविज्ञानभैरवे——

'महाशून्यालये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम् ।
हूयते मनसा साकं स होमः स्रुक्च चेतना ॥'

इति । श्रीतिमिरोद्घाटेऽपि——

अथेदृङ्मातृकाचक्रसंबोधोब्दोधितात्मनः ।
'शून्यं धीः प्राण इत्येतत्सृज्यते क्षीयतेऽपिच ॥ ५२ ॥
स्थैर्यमस्ति परं देहापेक्षया नतु तत्त्वतः ।'
इत्युक्तनीत्या शून्यादेः प्रमाता त्वस्य भित्तिभूः ॥ ५३ ॥
शरीरं स्थूलसूक्ष्मादि चिदग्नौ परयोगिनः ।
हूयमानं हविः प्रोक्तं तन्मातृत्वनिमज्जनात् ॥ ५४ ॥
परिपूर्णप्रकाशात्मप्रमात्रुन्मज्जनप्रदात् ॥ ८ ॥

एवं शरीरहव्येन ज्वलद्बोधोर्ध्वरोचिषः ॥ ५५ ॥

अनेन प्रकारेण मन्त्रात्मके तेजसि संदीप्ते सति पुनर्जन्मसम्पादकं कर्मवपुः निःशेषं प्रज्वलतीत्याह—शङ्करः—'शरीरं हविः ।' मन्त्रतादात्म्यरूपे ज्ञानाग्नौ प्रज्वलिते सति हविर्भूतं कर्मबन्धनात्मकं भौतिकं शरीरं निःशेषतया प्रगलितं भवति । अस्य मन्त्रात्मकदिव्यदेहमाश्रित्यासीनस्य समग्रभावसमूहज्ञानाग्निसात्करणरूपेष्टिं प्रकुर्वतो यजमानस्य

ज्ञानमन्नम् ॥ ९ ॥

यत् 'ज्ञानं बन्धः' (१-२) इत्युक्तं, तत् अद्यमानत्वात् योगिनामन्नम् ।

एवं परं ज्ञानकायस्थितस्यान्नं किमाह च ।
ज्ञानमत्र परं सम्यगुक्तं प्रकरणद्वये ॥ ३८ ॥

'यः प्रियो यः सुहृद्बन्धुर्यो दाता योऽतिवल्लभः ।
तदङ्गभक्षणाद्देवि ह्युत्पतेद्गगनाङ्गना ॥'

इति । अत्र हि देहप्रमातृताप्रशमनमेव पिण्डार्थः । श्रीमद्भगवद्गीतास्वपि--

'सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥'

इति । स्पन्दे तु--

'यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम् ।'

इत्यनेनैव संगृहीतम् । क्षोभो देहाद्यहंप्रत्ययरूपः, इति हि तद्वृत्तौ भट्टश्रीकल्लटः ॥ ८ ॥

अस्य च--

यत्पूर्वं 'ज्ञानं बन्धः' (१-२) इत्युक्तं तत् अद्यमानत्वात्, ग्रस्यमानत्वात्, योगिनामन्नम् । यत्संवादितं प्राक्--

ज्ञानं बन्ध इति प्रोक्तं यत्प्राक्तत्परयोगिनः ।
अनात्मन्यात्मताज्ञप्तिरन्नं ग्रस्यत इत्यतः ॥ ५६ ॥

मायीयप्रमातृताप्रशमनेन अहंभावपरिबीर्यरूपमान्त्रशरीरैश्वर्ये शरीरबन्धनकारणरूपस्य कार्ममलस्य विनाशो भवति अर्थाद् अनन्तरं दिव्यदेहस्य आश्रयणं करोति, यजमानस्वरूपस्य चिदात्मनो विभोः अयमेव परो देहो वर्तते, सदोदितं महत्यग्नौ निर्बन्धमहासत्तात्मके शरीरादिसमस्तभावजातस्य अविरतं योगी समर्पणं करोति ॥ ८ ॥

ज्ञानस्य अन्नरूपतां वर्णयति--'ज्ञानमन्नम् ।' पूर्वस्मिन् 'ज्ञान बन्धः ।' इति यदुक्तं तस्य अद्यमानत्वेन--ग्रासरूपतया ग्रस्यमानत्वेन योगिनां कृते तदन्नमेव भवति । यदुक्तम्--

अथ च यत् स्वरूपविमर्शात्मकं ज्ञानं, तत् अस्य अन्नं परिपूर्ण-तृप्तिकारितया स्वात्मविश्रान्तिहेतुः ॥ ९ ॥

तदेवान्नमिव ज्ञेयं परितृप्त्युपपादकम् ।
यतः प्रपूर्णतैव स्यादसकृत्तन्निभालनात् ॥३९॥९॥

'मृत्युं च कालं च कलाकलापं
विकारजातं प्रतिपत्तिसात्म्यम् ।
ऐकात्म्य-नानात्म्यवितर्कजातं
तदा स सर्वं कवलीकरोति ॥'

इति ।

अथ च यत्स्वरूपविमर्शात्मकं ज्ञानं तत् अस्य अन्नं, पूर्णपरितृप्ति-कारितया स्वात्मविश्रान्तिहेतुः । तदुक्तं श्रीविज्ञानभैरवे--

'अत्रैकतमयुक्तिस्थे योत्पद्येत दिनाद्दिनम् ।
भरिताकारिता सात्र तृप्तिरत्यन्तपूर्णता ॥'

इति । युक्तिर्हि तत्र द्वादशोत्तरशतभूमिकाज्ञानरूपैव । एतच्च स्पन्दे--

'प्रबुद्धः सर्वदा तिष्ठेत्............................. ।'

इत्यनया कारिकया संगृहीतम् ॥ ९ ॥

किंच यद्यत्प्रकाशात्मस्वरूपामर्शनात्मकम् ।
ज्ञानं तत्परमाह्लादकारित्वादन्नमुच्यते ॥ ५७ ॥ ९ ॥

'मृत्युं च कालं च कलाकलापं विकारजातं प्रतिपत्तिसात्म्यम् ।
ऐकात्म्य-नानात्म्यवितर्कजातं तदा स सर्वं कवलीकरोति ॥'

तत्र ज्ञानशब्देन अज्ञानमुक्तम्, अज्ञानमेव सर्वविधबन्धनस्य कारणमस्ति । अत एव परतत्त्वबुभुत्सुना योगिना तस्य अन्नवद्विनाशार्थं भक्षणमेव कर्तव्यं—कवलीकर्त्तव्यमिति भावः । सूत्रेऽस्मिन् ज्ञानशब्देन यदि स्वरूपभूतपरमशिवविमर्शात्मकं ज्ञानं गृह्यते, तदापि तस्य अन्नरूपतां नैव हीयते । यतो हि योगिनः कृते तत्परितृप्तिहेतुत्वेन स्वात्मविश्रान्ति-कारकमस्ति । तथा चोक्तं विज्ञानभैरवे—

'अत्रैकतमयुक्तिस्थे योत्पद्येत दिनाद्दिनम् ।
भारिताकारता सात्र तृप्तिरत्यन्तपूर्णता ॥' १४५ ॥

विद्यासंहारे तदुत्थस्वप्नदर्शनम् ॥ १० ॥

शुद्धविद्यानिमज्जने भेदमयस्य विकल्पप्रपञ्चस्य स्फुटमुन्मज्जनं भवति ॥ १० ॥

इति श्रीशिवसूत्रवृत्तौ शाक्तोपायप्रकाशनं नाम द्वितीय उन्मेषः ॥ २ ॥

तदेवं सत्यविद्यायाः संहारस्तेन किं भवेत् ।
तदर्थं चास्य निष्पत्त्यै खण्डमाहामरार्चितः ॥ ४० ॥
संसारवेदनी विद्या ह्यविशिष्टा निरूपिता ॥ ४१ ॥

यदा तु एवं सततावहितो न भवति, तदा ज्ञानवतोऽपि अस्य अवधानावलेपात्—

प्रोक्तज्ञानस्फाररूपायाः शुद्धविद्यायाः संहारे, निमज्जने, तदुत्थस्य, क्रमात्क्रमन्यक्कृतविद्यासंस्कारस्य स्वप्नस्य, भेदमयस्य विकल्पप्रपञ्चरूपस्य दर्शनं, स्फुटम् उन्मज्जनं भवति। तदुक्तं श्रीमालिनीविजये—

'न चैतदप्रसन्नेन शङ्करेणोपदिश्यते ।
कथञ्चिदुपदिष्टेऽपि वासना नैव जायते ॥'

यदा त्ववहितः शश्वद्योगी नैवं भवत्यसौ ।
तदा ज्ञानवतोऽप्यस्य समाधानावलेपतः ॥ ५८ ॥

अर्थात् कस्याञ्चिद् धारणायामवस्थिते योगिनि उत्तरोत्तरं निर्विकल्पसमावेशदशारसास्वादाद् या अद्वयस्वरूपात्मोपलब्धिरूपाऽत्यन्तपूर्णता प्राप्येत, सैव अत्र तृप्तिरिति कथ्यते। अयं निष्कर्षः—परतत्त्वदशायां समुपगतो योगी स्वात्मवैभवविस्तारं निरन्तरं परिशीलयन् अत्यन्तं निराकाङ्क्षो भवति, ग्राह्याभ्यन्तरे स्वात्मविस्फुरणात्मकसमस्तप्रपञ्चप्रसारे भरितस्वभावत्वेन न किञ्चिदपि अभिवाञ्छति, व्यवहारदशायां तु कदाचिद् देहभूमिकायां विद्यमानः प्रबुद्धयोगो नटवत् स्वस्वरूपचमत्करणयुक्तं पात्रीभूय नानाविधान् अभिनयान् निर्वहन् शब्दादिविषयेन्द्रियैः विषयसमूहं स्वस्वरूपे समर्पयति, किन्तु विषयवासनावशेन स्वात्मस्फुर्त्तिविस्मरणं कृत्वा पशुरिव निम्नावस्थायां नैव अवतिष्ठति ॥ ९ ॥

यस्मिन् काले तु पूर्वोक्तरीत्या निरन्तरं योगी सावधानो न भवति, तदा सत्यविज्ञाने अवधानाभावात्तस्य विकल्पात्मकं भेदमयप्रपञ्चदर्शनं भवतीति आह—'विद्यासंहारे

तस्याः संहार एव स्यात्स्वप्रकाशोदये सति ।
संहारे सत्यविद्योत्थं भावजातं विमोहकम् ॥ ४२ ॥
स्वप्नरूपं स्मृतं तस्य दर्शनं प्रत्यवेक्षणम् ।
इत्येवं परमेशेन संगृह्य च निरूपितम् ॥ ४३ ॥
प्रबुद्धता वृत्त्युदये सा निरङ्कुशवत्स्थितिः ।
स्वालोककलनात्मत्वं ध्येयैक्यं नित्यतृप्तता ॥४४॥१०॥

द्वितीयमेतत्सहजविद्योदयनिरूपकम् ।
शिवसूत्रप्रकरणं समाप्तमिह सांप्रतम् ॥ ४५ ॥

इत्युपक्रम्य--

'वासनामात्रलाभेऽपि योऽप्रमत्तो न जायते ।
तमनित्येषु भोगेषु योजयन्ति विनायकाः ॥'

इति । तदेतत्--

'अन्यथा तु स्वतन्त्रा स्यात्सृष्टिस्तद्धर्मकत्वतः ।
सततं लौकिकस्येव जाग्रत्स्वप्नपदद्वये ॥'

इत्यनेन स्पन्दे संगृहीतम् । अतश्च नित्यं शुद्धविद्याविमर्शनपरेणैव योगिना भाव्यम् इत्युपदिष्टं भवति । यथोक्तम्--

विद्येति ज्ञानविस्फाररूपा या तु पुरोदिता ।
शुद्धविद्याथ संहारेऽनुत्थानेऽस्या निमज्जने ॥ ५९ ॥
तदुत्थस्य क्रमेणाश्चद्विद्यासंहारजन्मनः ।
स्वप्नस्य भेदनिष्ठस्य विकल्पौघस्य दर्शनम् ॥ ६० ॥

तदुत्थस्वप्नदर्शनम् ।' दर्शितप्रकाशात्मकशुद्धविद्यायाः संहारे, निमज्जने अवधानराहित्येन विद्यायाः तिरोहितत्वे सति तज्जनितस्य अर्थात् क्रमशो विद्यासंहारजनितस्य भेदात्मकविकल्पप्रपञ्चस्वरूपस्वप्नस्य दर्शनं भवति । अत एव योगिना सततं परिशुद्धविद्याविमर्शतत्परेणैव भाव्यम् । मनागपि विचारस्योपेक्षा नैव कर्तव्यम् । अत एव किञ्चिज्ज्ञत्वरूपशून्यार्थजातविकल्पमयोन्मग्नानुन्मग्नानि जगन्ति स्वप्नवत् योगी संवेदनात्मकातिस्वच्छदर्पणे पश्यन् निरंकुशं परमशिव इव सहजविद्योदयपदे निरन्तरं विहरति ॥ १० ॥

प्रवक्तव्यमतश्चात्र विभूतिस्पन्दलक्षणम् ।
ज्ञानयोगबलप्राप्तौ चिन्तामणिरिवापरः ॥ ४६ ॥

इति काश्मीरिकश्रीभट्टदिवाकरात्मज-भट्टभास्करा-
चार्यविरचिते शिवसूत्रवार्तिके सहजविद्योदयाख्यो
द्वितीयः प्रकाशः ॥ २ ॥

'तस्मान्न तेषु संसक्तिं कुर्वीतोत्तमवाञ्छया ।'
इति--श्रीपूर्वे । श्रीस्पन्देऽपि--
'अतः सततमुद्युक्तः स्पन्दतत्त्वविविक्तये ।
जाग्रदेव निजं भावमचिरेणाधिगच्छति ॥'
इति । एवं 'चित्तं मन्त्रः' (२-१) इत्यतः प्रभृति मन्त्रवीर्य-मुद्रावीर्यानु-संधिप्रधानम्--
'उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन् ।
यं समावेशमाप्नोति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते ॥'
इत्याम्नातं शाक्तोपायं विविच्य, अवधानावलिप्तं प्रति 'विद्यासंहारे तदुत्थ-स्वप्नदर्शनम्' (२-१०) इति सूत्रेण एतदनुषङ्गेण आणवोपायप्रतिपादनस्य अवकाशो दत्तः । इति शिवम् ॥ १० ॥
आदितः सूत्रसंख्या ॥ ३२ ॥

इति श्रीमन्माहेश्वराचार्याभिनवगुप्तपादपद्मोपजीवि-श्रीक्षेमराज-
विरचितायां शिवसूत्रविमर्शिन्यां शाक्तोपायप्रकाशनं
नाम द्वितीय उन्मेषः ॥ २ ॥

उन्मज्जनं भवत्यस्य प्राग्व्याख्यातोत्तमात्मनः ।
अवधानेऽवलिप्तस्य साधकस्येति शिष्यते ॥ ६१ ॥
इति द्वितीय उन्मेषः शाक्तोपायप्रकाशकः ॥ १० ॥

इति श्रीकृष्णदासापरपर्यायवरदराजविरचिते शिवसूत्रवार्तिके
शाक्तोपायप्रकाशनं नाम द्वितीय उन्मेषः ॥ २ ॥

तृतीय उन्मेषः

आत्मा चित्तम् ॥ १ ॥

यदेतत् विषयवासनाच्छुरितं, तत् अध्यवसायादिव्यापारबुद्धयहंकारमनोरूपं चित्तं, तदेव अतति सत्त्वादिवृत्त्यवलम्बनेन योनीः संचरति इति आत्मा अणुरित्यर्थः ॥ १ ॥

स्वरूपप्रत्यभिज्ञानान्मान्त्राच्च सहजोदयात् ।
विभूतयः प्रवर्तन्ते कीर्त्यन्ते ताश्च सांप्रतम् ॥
पूर्वापरविमर्शेन यो बोधोऽस्य विजृम्भते ।
तद्विकासादविच्छिन्नपरानन्दः स्वयं भवेत् ॥

इदानीमाणवोपायं प्रतिपिपादयिषुः, अणोः तावत्स्वरूपं दर्शयति--

यदेतत् विषयवासनाच्छुरितत्वात् नित्यं तदध्यवसायादिव्यापारबुद्धयहङ्कृन्मनोरूपं चित्तं, तदेव अतति, चिदात्मकस्वस्वरूपाख्यातया सत्त्वादिवृत्त्यवलम्बनेन योनीः संचरति, इति आत्मा अणुरित्यर्थः । न तु चिदेक-

इदानीमाणवोपायं क्रमेण प्रतिपादयन् ।
अतिसंकुचितं तावत्स्वरूपं दर्शयत्यणोः ॥ १ ॥
विशेषभोग्यशब्दादिवासनावेशरूषितम् ।
तत्तदध्यवसायादिव्यापारकरणोन्मुखम् ॥ २ ॥
सत्त्वादिवृत्त्यवष्टम्भि बुद्धयहंकृन्मनोमयम् ।
चित्तं तत्प्रोक्तचैतन्यस्वरूपानवमर्शनात् ॥ ३ ॥

साम्प्रतम् आणवोपायं क्रमशो विवेचयन् अतिसंकुचितं तावद् अणोः स्वरूपं निरूपयति—'आत्मा चित्तम् ।' विषयवासनाभरितं निरन्तरं यदेतद् अध्यवसायादिव्यापारबुद्धयहङ्कारकर्तृमनोरूपं चित्तं वर्तते, स एव आत्मा अतति चिदात्मकस्वरूपज्ञानेन प्रकाशचाञ्चल्यावरणादीनां सत्त्वादिगुणकार्याणां वृत्त्यावलम्बनद्वारा नानायोनीः सञ्चरति, इति

येनाखण्डितस्वातन्त्र्यशक्तिः स्वाभाविकी स्फुटा ।
विभूतिः प्रथते, खण्डं समाचष्ट तदर्थकम् ॥
तत्र चित्तात्मनः पूर्वं प्रत्यवेक्षार्थमावदत् ॥
मनः पर्यायमाख्यातं चित्तं सर्वत्र शासने ।
इन्द्रियत्वात्स संकल्पः स्यात्तु मन्त्रस्तदुच्यते ॥
आत्मैव चित्तं विज्ञेयं वागादिरहितं यदा ।
तदा मन्त्रः स विज्ञेयः संकल्पानुविधायकः ।
नैव संकल्पसिद्धिः स्यात्तत्स्वरूपनिभालनात् ॥ १ ॥

रूपस्य अस्य अतनमस्ति । अत एव 'चैतन्यमात्मा' (१–१) इति–स्वभावभूततात्त्विकैतत्स्वरूपप्रतिपादनाशयेन पूर्वमात्मा लक्षितः । इदानीं तु एतदीयसंकोचावभासप्रधानाणवदशौचित्येन, इति न पूर्वापरवैषम्यम् ॥ १ ॥

तत्तत्कर्मानुसारेण नानायोनीरनुव्रजत् ।
अततीत्यत एवात्मा ततः सोऽणुः प्रकीर्तितः ॥ ४ ॥
आत्मनश्चातनं नास्ति संविदेकस्वरूपिणः ।
अतश्चैतन्यमात्मेति धीक्रियात्मकमात्मनः ॥ ५ ॥
विश्वस्वभावभूतं तत्तात्त्विकं रूपमीरितम् ।
इदानीमेतदीयेन स्वातन्त्र्येणावभासितात् ॥ ६ ॥
संकोचादणुतायोगाच्चित्तमात्मेति लक्षितम् ।
इति पूर्वापरादेशवैषम्यं नास्ति किंचन ॥ ७ ॥ १ ॥

आत्मा अणुः संकुचित प्रमाता । आणवोपायो नाम पाशवव्यापारः । यदा तु अयं विकल्पः स्वसंस्काराय व्यतिरिक्तमुपायमपेक्षते, तदा बुद्धिप्राणप्रभृतीन् परिच्छिन्नस्वरूपान् उपायत्वेन गृह्णन् अणुत्वमुपगतः आणवं ज्ञानमाविर्भावयति, तद्धि चित्तविश्रान्त्यात्मकं भवति । तथा चोक्तम्— 'पूर्वं विसृज्य सकलं कर्तव्यं शून्यतानले ।
चित्तविश्रान्तिसंज्ञोऽयमाणवः परिकीर्तितः ॥'

वस्तुतः चिदेकस्वरूपस्य आत्मनः कदापि अतनं नैव भवितुमर्हति, तस्य नित्यशुद्धबुद्धस्वरूपस्य निष्क्रियात्मनः उत्तरदेशसंयोगानुकूलव्यापाराभावेन कस्मिन्नपि देशान्तरे गत्यभावात् । अत एव 'चैतन्यमात्मा ।' इति प्रथमसूत्रेण आत्मनो वास्तविकं स्वरूपं लक्षितम्, प्रकृते तु एतस्य संकोचावभासप्रधानाणवदशौचित्येन तस्य निरूपणे प्रवृत्तस्य सूत्रकारस्य न पूर्वापरविरोध आशङ्कनीयः ॥ १ ॥

ज्ञानं बन्धः ॥ २ ॥

'सत्त्वस्थो राजसस्थश्च तमःस्थो गुणवेदकः ।
एवं पर्यटते देही स्थानात् स्थानान्तरं व्रजेत् ॥'

इति ॥ २ ॥

कुतश्चित्तस्य संकल्पसिद्धिर्नास्ति तदाह च ॥
ज्ञानं विषयसंश्लेषाग्रागादिज्ञप्तिलक्षणम् ।
तदेव बन्धश्चित्तस्य स्वरूपावरणात्मकम् ॥

अस्य चित्तस्वरूपस्य अणवात्मनः--

सुखदुःखमोहमयाध्यवसायादिवृत्तिरूपं तदुचितभेदावभासनात्मकं यत् ज्ञानं, तत् बन्धः। तत्पाशितत्वादेव हि अयं संसरति। तदुक्तं श्रीतन्त्रसद्भावे--

'सत्त्वस्थो राजसस्थश्च तमस्थो गुणवेदकः ।
एवं पर्यटते देही स्थानात्स्थानान्तरं व्रजन् ॥'

इति । एतदेव--

'तन्मात्रोदयरूपेण मनोऽहंबुद्धिवर्तिना ।
पुर्यष्टकेन संरुद्धस्तदुत्थं प्रत्ययोद्भवम् ॥
भुङ्क्ते परवशो भोगं तद्भावात्संसरेत्... ।'

इत्यनेनानूदितम् ।

अस्य चित्तस्वरूपस्य देहादेरात्मनस्त्वणोः ।
अन्तः सुखादिसंवेद्यव्यवसायादिवृत्तिमत् ॥ ८ ॥
बहिस्तद्योग्यनीलादिदेहादिविषयोन्मुखम् ।
भेदाभासात्मकं चास्य ज्ञानं बन्धोऽणुरूपिणः ॥ ९ ॥
तत्पाशितत्वादेवासावणुः संसरति ध्रुवम् ॥ २ ॥

अणुरूपस्य आत्मनो बन्धनं दर्शयति—'ज्ञानं बन्धः।' सुखदुःखमोहनिश्चय-विकल्पाभिमानादिप्रवृत्तिस्तथा तदुचितभेदावभासरूपं यज्ज्ञानं वर्तते, तदेव अणुरूपस्यात्मनो बन्धः। तादृशबन्धनबद्धोऽणवात्मानानायोनिषु आवागमनं करोति। तथा चोक्तं श्रीतन्त्रसद्भावे—

कलादीनां तत्त्वानामविवेको माया ॥ ३ ॥

किंचित्कर्तृत्वादिरूपकलादिक्षित्यन्तानां तत्त्वानां कञ्चुक-पुर्यष्टकस्थूलदेहत्वेन अवस्थितानां योऽयम् अविवेकः पृथक्त्वाभिम-

अन्तर्बहिश्च विषयानासक्त्याभ्यासपाटवात् ।
यदा मन्तव्यता तस्य तद्द्रष्टा मुक्त एव हि ॥ २ ॥

इत्थं नित्यस्य च द्रष्टुः किमावरणमुच्यते ॥

'... अतः ।
संसृतिप्रलयस्यास्य कारणं संप्रचक्ष्महे ॥'

इत्येतत्प्रतिविधानाय स्पन्दशास्त्रे ॥ २ ॥

ननु च—

'ज्ञानं प्रकाशकं लोके आत्मा चैव प्रकाशकः ।
अनयोरपृथग्भावाज्ज्ञाने ज्ञानी प्रकाशते ॥'

'ज्ञानं प्रकाशकं लोके आत्मा चैव प्रकाशकः ॥ १० ॥
अनयोरपृथग्भावाज्ज्ञानी ज्ञाने प्रकाशते ।'
इत्युक्तनीत्या ज्ञानं च स्वस्वरूपप्रकाशकम् ॥ ११ ॥
आत्मवत्तत्कथं तस्य बन्धकत्वप्रसङ्गिता ।
इत्याशङ्क्याह यद्येवं प्रसन्नात्परमेश्वरात् ॥ १२ ॥

सत्त्वस्थो राजसस्थश्च तमस्थो गुणवेदकः ।
एवं पर्यटते देही स्थानात्स्थानान्तरं व्रजन् ॥' इति

तथा चाह स्पन्दकारिकायां—

'तन्मात्रोदयरूपेण मनोऽहंबुद्धिवर्त्तिना ।
पुर्यष्टकेन संरुद्धस्तदुत्थं प्रत्ययोद्भवम् ॥
भुङ्क्ते परवशी भोगं तद्भावात्संसरेत् ।'

अर्थात् पुर्यष्टकस्य द्वे रूपे स्त—एकं सूक्ष्मम्, अपरञ्च स्थूलम् । तत्र सूक्ष्मेण पुर्यष्टके संरुद्ध आवृतः । अत एव परवशः सन् तदुत्थप्रत्ययोद्भवं सुखासुखवेदनरूपं भोगं अश्नाति । तस्य च पुर्यष्टकस्य भावात् तद्वशाच्छरीरी संसारधर्मं प्राप्नोति ॥ २ ॥

तानामेव अपृथक्त्वात्मत्वेन प्रतिपत्तिः सा माया, तत्त्वाख्यातिमयः प्रपञ्चो माया ॥ ३ ॥

कलादिक्षितिपर्यन्तस्तत्त्वग्रामोऽस्य सोच्यते ।
ततमेतैर्जगत्सर्वमतस्तत्त्वानि तत्र च ॥
कला कर्तृत्वसामर्थ्यं किंचिन्मात्रं प्रकीर्तितम् ।
तादृशं ज्ञानसामर्थ्यं विद्यातत्त्वमिति स्मृतम् ॥
इदमेवेष्टमस्तीत्थं रागः पाशोऽस्ति बन्धनम् ।
इदानींतनभावेऽस्मिन् कालोऽप्याकलनं मतम् ॥
नियतत्वं कर्मफले नियत्यात्मकतात्मनः ।
समदुःखसुखज्ञत्वमन्तस्तत्त्वे प्रधानता ॥

इति–श्रीविज्ञानभैरवोक्तदृष्टया ज्ञानमपि प्रकाशमयमेव इति कथमस्य बन्धरूपत्वम् । सत्यमेतत्, यदि परमेश्वरप्रसादादेवं प्रत्यभिज्ञायेत, यदा तु तन्मायाशक्तितो नैवं विमर्शस्तदा––

प्रत्यभिज्ञा भवत्येषा तदा सत्यं त्वदीरितम् ।
तन्मायाशक्तितो नैष विमर्शोऽस्य यदा, तदा ॥ १३ ॥

ननु प्रकाशकं ज्ञानं नात्मनो व्यतिरिक्तं वर्तते, सर्वं प्रकाश्यं वेद्यं वस्तुजातं ज्ञानप्रकाशकमस्ति । तथा चोक्तं—

'प्रकाशमानं न पृथक् प्रकाशात् स च प्रकाशो न पृथग्विमर्शात् ।
नान्यो विमर्शोऽहमिति स्वरूपाद् अहंस्वरूपोऽस्मि चिदेकरूपः ॥'

एवं च—

'प्रकाशमाने परमार्थभानौ नश्यत्यविद्यातिमिरे समस्ते ।
तदा बुधा निर्मलदृष्टयोऽपि किञ्चिन्न पश्यन्ति भवप्रपञ्चम् ॥' इति
'ज्ञानं न भवतो भिन्नं ज्ञेयं ज्ञानात्पृथङ् नहि ।
अतो न त्वितरत्किञ्चित्तस्माद्भेदो न वास्तवः ॥'

इत्यादि वचनानुसारं ज्ञानं प्रकाशमयमेव, तथा च कथमस्य बन्धरूपत्वमिति चेन्न, यतः परमेश्वरप्रसादाद् यद्येवं प्रत्यभिज्ञायेत, यदा तु परमेश्वरमायाशक्तिवशात् नैवं

सुखदुःखविमोहित्वं गुणाः स्युर्मन्तृता च धीः ।
संरम्भत्वमहंकारो मनश्चाक्षप्रयोक्तृता ॥
अक्षैर्विशेषितं ज्ञत्वं बुद्धीन्द्रियगणः स्मृतः ।
तैरेव भिन्नं कर्तृत्वं कर्मेन्द्रियगणस्त्वयम् ॥
शब्दमात्रावभासित्वं तन्मात्रकगणस्तथा ।
भिन्नशब्दादितोद्वृत्तं गणः स्यात्पाञ्चभौतिकः ॥
एतेषामविवेको यः सा माया मोहनी यतः ।
विवेकः पुनरत्रैव शुद्धविद्यादिसंश्रितः ॥
अतः शुद्धानि तत्त्वानि प्रोच्यन्ते तत्त्ववेदिभिः ।
स्वज्योतिष्ट्वं शिवं तत्त्वं दृक्क्रिये शक्तिरुच्यते ॥

किञ्चित्कर्तृतादिरूपकलादिक्षित्यन्तानां तत्त्वानां कञ्चुक-पुर्यष्टक-स्थूलदेहत्वेन अवस्थितानां योऽयमविवेकः, पृथक्त्वाभिमतानामेव अपृथगात्मत्वेन प्रतिपत्तिः, सा माया तत्त्वाख्यातिमयः प्रपञ्चः। तदुक्तं श्रीतन्त्रसद्भावे—

अन्तरन्तःस्फुरत्किंचित्कर्तृत्वादिप्रदायिनाम् ।
कलादिक्षितिपर्यन्ततत्त्वानां कञ्चुकात्मनाम् ॥ १४ ॥

प्रत्यभिज्ञा भवति, तदा तु तस्य बन्धरूपत्वं शतक्रतुनाऽपि न निवारितुं शक्यः इत्याह— 'कलादीनां तत्त्वानामविवेको माया।' कलानाम किञ्चित्कर्तृत्वसामर्थ्यम्।
तथा चाह—
'सर्वकर्तृताशक्तिः संकुचिता कतिपयार्थमात्रपरा ।
किञ्चित्कर्तारममुं कलयन्ती कीर्त्यते कला नाम ॥'
एवं च कर्तृत्वप्रदायकपृथिवीतत्त्वपर्यन्तपदार्थानाम् अर्थात् कञ्चुक—पुर्यष्टकस्थूलशरीरतया विद्यमानानां योऽयमविवेकः—[परमार्थतत्त्वस्वरूपस्य अप्रथनस्वभावः—विवेचनाभावेति वा] पृथग्रूपेण अभिमतानामपि अव्यतिरिक्ततया प्रतिपत्तिः, सा माया परमतत्त्वस्य अज्ञानरूपः प्रपञ्चः ।

तथा चाह श्रीतन्त्रसद्भावे—
'कलोद्बलितचैतन्यो विद्यादर्शितगोचरः ।
रागेण रञ्जितात्मासौ बुद्ध्यादिकरणैर्युतः ॥'

सर्वज्ञानक्रियावत्त्वयोग्यता स्यात्सदाशिवः ।
प्रेर्यत्वमैश्वरं तत्त्वं तद्द्वारा प्रेषणा यतः ॥
शिवशास्त्रादिबोद्धृत्वं विद्या शुद्धेह कीर्तिता ।
इत्थमात्मन्यवस्थाभिरेताभिस्तत्त्वकल्पना ॥
तत्त्वानां तदवस्थात्वमुच्यमानं न दुष्यति ।
सर्वानुस्यूतरूपत्त्वाद्विमर्शः परमस्त्वतः ॥ ३ ॥

'कलोद्वलितचैतन्यो विद्यार्दशितगोचरः ।
रागेण रञ्जितात्मासौ बुद्ध्यादिकरणैर्युतः ॥
एवं मायात्मको बन्धः प्रोक्तस्तयो[स्य द-]दरात्मकः ।
तदाश्रयगुणो धर्मोऽधर्मश्चैव समासतः ॥
तत्रासौ संस्थितः पाश्यः पाशितस्तैस्तु तिष्ठति ।'

इति । स्पन्दे तु––

'अप्रबुद्धधियस्त्वेते स्वस्थितिस्थगनोद्यताः ।'

इत्यनेन एतत् भङ्ग्या उक्तम् ॥ ३ ॥

पुर्यष्टकमयत्वेन स्थूलदेहादिरूपतः ।
स्थितानामविवेकस्तेष्वात्मत्वेनानुसंहितिः ॥ १५ ॥
सैव संमोहिनी माया तत्त्वाख्यातिमयं जगत् ॥ ३ ॥

अतश्चैतज्जन्यमायाप्रशमायास्य योगिनः ॥ १६ ॥

यदुक्तं परमार्थसारे—

'मायापरिग्रहवशाद् बोधो मलिनः पुमान् पशुर्भवति ।'

यतो हि अनया मोहरूपया मायया परतत्त्वमावृतं भवति, तस्मादेव पूर्वोक्तं ज्ञानं बन्धहेतुर्भवति । यदुक्तम्—

'एवं मायात्मको बन्धः प्रोक्तस्तस्य दरात्मकः ।
तदाश्रयगुणो धर्मोऽधर्मश्चैव समासतः ॥
तत्रासौ संस्थितः पाश्यः पाशितस्तैस्तु तिष्ठति ।' इति

किञ्चित्कर्तृत्वलक्षणेन कलातत्त्वेन अपूर्णतामुपनतं चैतन्यं सर्वकर्तृत्वलक्षणं यस्य सः । अल्पज्ञतात्मकेन विद्यातत्त्वेन र्दाशताः कमनीयतया प्रमेयभूमिकां नीता गोचरा

शरीरे संहारः कलानाम् ॥ ४ ॥

शरीरे स्थूले सूक्ष्मे परे वा, कलानां तत्त्वभागानां पृथिव्यादि-शिवान्ततत्त्वानां, स्वकारणे लयभावनया संहारो ध्यातव्य इति शेषः ॥ ४ ॥

इत्थं तत्त्वात्मककलारूपं प्रसरमात्मनः ।
निरूप्य पुनरप्याह तत्संकोचाद्यथोदयः ॥

अतश्च एतत्प्रशमाय--

महाभूतात्मकं, पुर्यष्टकरूपं, समनान्तं यत् स्थूलं, सूक्ष्मं, परं शरीरं, तत्र याः पृथिव्यादिशिवान्ततत्त्वरूपाः कला भाजाः, तासां संहारः, स्वकारणे लयभावनया दाहादिचिन्तनयुक्त्या वा ध्यातव्यः, इति शेषः। यदुक्तं श्रीविज्ञानभैरवे--

महाभूतात्मके स्थूले सूक्ष्मे पुर्यष्टकात्मनि ।
मूलादिसमनान्ते च शरीरे योगिनः परे ॥ १७ ॥

इन्द्रियार्थाः । रागतत्त्वेन विषयेषु साभिलाषकृत जीवात्मनः—पशोः परिमिताहन्तात्म-मायीयमलस्वरूपो बन्धः, मायीयबन्धाश्रयः शुभाशुभकर्मवासनास्वभावः, तत्रैव उभयरूपे मले असौ पशुप्रमाता बध्यते । तथा चोक्तं स्पन्दकारिकायाम्—

'अप्रबुद्धधियस्त्वेते स्वस्थितिस्थगनोद्यताः ।
पातयन्ति दुरुत्तारे घोरे संसारवर्त्मनि ॥' २० ॥

अर्थात् परमेश्वरपरानुग्रहरहितान् अल्पज्ञान् स्वस्थितेः—चिद्रूपायाः आच्छादनं कृत्वा, ते गुणादिस्पन्दनिःष्यन्दाः दारुणे दुर्लङ्घ्ये जन्मादिप्रबन्धमार्गे पातयन्ति, यस्तद्रूपमेव निरन्तरम् आत्मानमवलोकयन्ति, न तु सच्चिदानन्दरूपतया ॥ ३ ॥

अतश्च मायाबन्धनिवृत्यै उपायमाह—'शरीरे संहारः कलानाम् ।' महाभूतात्मकं पुर्यष्टकं समनान्तं यत्स्थूलं, सूक्ष्म, परं देहं वर्तते, तेषु क्षित्यादिशिवान्ततत्त्वरूपाः भागाः विद्यन्ते, तेषां कलात्मकभागानां कार्याणां संहारः—संविदेकाग्निसद्भावो निजे कारणे लयभवनाद्वारा-[यथा उपनिषदि 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूत आकाशा-द्वायुर्वायोरग्निरग्नेराप अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्याः पुरुषः पुरुष एवेदं सर्वम् ।' इत्थमनुक्रमं

तत्त्वानां यत्स्वसामर्थ्यं कलास्ताः परिकीर्तिताः ।
तत्संघातः शरीरं स्यात्सकलत्वमतोऽस्य तत् ॥
आधार आत्मनस्तत्र कलानां करणात्मनि ।
स्वके स्वकेऽनुप्रवेशः संहारः परिकीर्तितः ॥
एवं यावद्बोधदेहप्राप्तिस्तत्रोदयः परः ।
अथोल्लंघनवृत्त्या वा शिवतत्त्वावलम्बनम् ॥
तत्स संहार एव स्यात्कलानां तेन चोदयः ॥ ४ ॥

तत्त्वप्रसरसंकोचस्वरूपोऽगोत्थमातनि ॥

'भुवनाध्वादिरूपेण चिन्तयेत्क्रमशोऽखिलम् ।
स्थूलसूक्ष्मपरस्थित्या यावदन्ते मनोलयः ॥'

इति । तथा--

'कालाग्निना कालपदादुत्थितेन स्वकं पुरम् ।
प्लुष्टं विचिन्तयेदन्ते शान्ताभासः प्रजायते ॥'

इति । एवमादि च सर्वागमेष्वस्ति । अत एव--

'उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः ।
यो भवेत्स समावेशः सम्यगाणव उच्यते ॥'

कलानां तत्र भागानां कार्याणां कारणे निजे ।
संहारः संविदेकाग्निसद्भावो लयचिन्तया ॥ १८ ॥
दाहाद्यामर्शयुक्त्या वा ध्यातव्य इति शिष्यते ॥ ४ ॥

एवं ध्यानाभिधानो यः संहारोपाय ईरितः ॥ १९ ॥

यथा स्वकारणमुत्पद्यन्ते तथा भिन्नक्रमं तत्त्वनां क्षित्यादिशिवपर्यन्तानाम् आरोहक्रमेण स्वकारणे विलयो भाव्यते] शरीरादिचिन्तनयुक्त्या वा ध्यातव्यः । अर्थात् भुवन-तत्त्व-कला-मन्त्र-पद-वर्णरूपो यो वाच्यवाचकरूपोऽध्वा शब्दार्थमयस्तस्य अध्वनः स्थूलास्थूल-परस्थित्या क्रमेण समस्तं परिदृश्यमानं नाम-रूपात्मकं विश्वं चिन्तयेत् । यावदन्ते तत्रैव मनोलयो भवेत् । एवं च दक्षिणपादाङ्गुष्ठाद् उत्थापितेन कालाग्निरुद्रेण आत्मीयं शरीर-मेव गुग्गुलम् 'ॐ र क्ष र य ऊं तनुं दाहयामि नमः' इति मन्त्रस्य उच्चारणं कृत्वा

नाडीसंहार-भूतजय-भूतकैवल्य-भूतपृथक्त्वानि ॥ ५ ॥

नाडीनां प्राणादिवाहिनीनां मध्यनाड्यां संहारः; भूतानां जयो विलीनतापादनम्; भूतकैवल्यं चित्तस्य ततः प्रत्याहरणम्; भूत-

वृत्त्युल्लंघनयोगेन स्वस्वरूपोदयं शिवः ।
प्रतिपाद्य पुनः प्राह भूतसिद्ध्युदयः कथम् ॥
चिदाधारे शरीरेऽस्मिन्संस्थिते पाञ्चभौतिके ।
स्वातन्त्र्यादात्मनः स्वाम्यं गृहे गृहपतेर्यथा ॥

इति–श्रीपूर्वशास्त्रे ध्यानादि एव आणवत्वेन उक्तम् । एतच्च स्थूलत्वात् शाक्तोपायप्रकाशात्मनि स्पन्दशास्त्रे न संगृहीतम् । यत्तु अत्र पर्यवसान-भङ्ग्या शाक्तादि अस्ति, तत् अस्माभिः अत्रापि स्पन्दग्रन्थात् संवादितं; संवादयिष्यते च किंचित् ॥ ४ ॥

एवं ध्यानाख्यमाणवमुपायं प्रदर्श्य, तदेकयोगक्षेमान् प्राणायाम-धारणा-प्रत्याहार-समाधीन् प्रदर्शयति––

एवमेतत्प्रधानांश्च प्राणायामपुरःसरान् ।
अन्यान्समाधिपर्यन्तानुपायान्दर्शयत्यसौ ॥ २० ॥
भावनीयानि युक्तेन साधकेनेति शिष्यते ।
प्राणादिवाहिनाडीनां संहारः प्राणसंयमात् ॥ २१ ॥

देहदाहादिचिन्तनयोगयुक्त्या-आत्मभावनया दग्धं विभावयेत् । तस्मिन् काले योगनिष्ठपुरुष अभिव्यक्तस्वस्वरूपभूतो भवेत् । अस्य चिन्मयमूर्त्तिमान् अग्निः प्रकाशते । यदुक्तं महामञ्जर्यां —

'शोषो मलस्य नाशो दाह एतस्य वासनोच्छेदः ।
आप्लावनं तनूनां ज्ञानसुधासेकेनिर्मिता शुद्धिः ॥' ४४ ॥

एवमेव कालाग्निरुद्रेण शरीरस्थं बाह्यस्थं च समग्रं विश्वं विकल्पतो प्लुष्टं विभाव्य समाहितचित्तस्य साधकस्य अपरिमितप्रमातृशिवरूपता प्रकाशते ॥ ४ ॥

यथा ध्यानाभिधानो यः संहारोपायः पूर्वसूत्रेण दर्शितस्तथा प्राणायामादिसमाधि-पर्यन्तान् अन्यान् उपायान् प्रदर्शयति––'नाडीसंहार-भूतजय-भूतकैवल्य-भूतपृथक्त्वानि ।'

पृथक्त्वं तदनुपरक्तस्वच्छस्वच्छन्दचिदात्मता; एतानि योगिना भावनीयानि इति शेषः ।। ५ ।।

तत्र चिदाकाशलयान्नाडीसंहार इष्यते ।
यतः सर्वत्र सर्वासां नाडीनां मुखमुच्यते ।।
नाड्याधारा वायवः स्युस्तदाधारश्च चिद्विभुः ।
तस्य वृत्तिलयान्मध्ये षड्गुणा वृत्तिरुत्तमा ।।

योगिना भावनीयानि इति शेषः । नाडीनां प्राणापानादिवाहिनीनां सुषीणां संहारः, प्राणापानयुक्त्या एकत्र उदानवह्न्यात्मनि मध्यनाड्य विलीनतापादनम् । यदुक्तं श्रीमत्स्वच्छन्दे--

'अपसव्येन रेचयेत सव्येनैव तु पूरयेत् ।
नाडीनां शोधनं ह्येतन्मोक्षमार्गपथस्य च ।।
रेचनात्पूरणाद्रोधात्प्राणायामास्त्रिधा स्मृताः ।
सामान्या बहिरेते तु पुनश्चाभ्यन्तरे त्रयः ।।
आभ्यन्तरेण रचयेत पूर्यताभ्यन्तरेण तु ।
निःस्पन्दं कुम्भकं कृत्वा कार्याश्चाभ्यन्तरास्त्रयः ।।'

रेचकादिक्रमोत्पादादुदानदहनात्मनि ।
मध्यनाड्यां विलीनत्वापादनं तन्मयत्वतः ।। २२ ।।
भूतानां भूजलादीनां जयो यः स उदीर्यते ।
'वायवी धारणांगुष्ठे आग्नेयी नाभिमध्यतः ।। २३ ।।

नाडीसंहारादीनि योगिना निरन्तरं भावनीयानि । नाडीनां प्राणापानादिवाहिनीनां सुषीणां संहारः अर्थात् पूरकादिपरिशीलनेन बाह्याभ्यान्तरे प्रसरणरूपतारहितं यन्मेलनम् एतदुक्त्या एकस्मिन् उदानाग्निस्वरूपिण्यां मध्यनाड्यां विलीनतापादानम् । अयं भावः— दीर्घकालपर्यन्तं कुम्भकप्राणायामाभ्यसनेन सर्वनाडीषु विसरणः शीलप्राणवायुरुदाने प्रलीयते तद्वाहित्वात् तासां नाडिसंहार इत्युपचर्यते । तथा च दक्षिणनासिकामार्गेण रेचकं कुर्यात्, वामनासिकामार्गेण वायुपूरणं कुर्यात्, इत्थं निरन्तरं क्रियमाणमेतत्क्रमेण नाडीनामविमुक्तमार्गस्य वा मध्यधाम्नः परिशोधनं कुम्भकरूपवायुप्रशमनं संजायते । भूतजयो नाम क्षित्यादीनां पञ्चभूतानां धारणादिभिः वशीकारः । यदुक्तं स्वच्छन्दतन्त्रे—

स्थिरद्रवोष्णचलता सौषिर्यविपरीतता ।
तत्त्वस्वरूपमथवा स्थानलक्ष्यप्रभेदतः ।।
विभावयन्भूतजयः स्यात्प्रबुद्धस्य च प्रभोः ।
तन्निरासत एवास्य कैवल्यमनुपाधिकम् ।।
षट्त्रिंशत्तत्त्वसामर्थ्ययुक्तं भूतं पृथक् पृथक् ।
करोप्यात्मबलस्पर्शात्स्वविवर्तविवर्तनात् ।।

इति । भूतानां पृथिव्यादीनां जयो धारणाभिर्वशीकारः । यथोक्तं तत्रैव--

'वायवी धारणाङ्गुष्ठे आग्नेयो नाभिमध्यतः ।
माहेयी कण्ठदेशे तु वारुणी घण्टिकाश्रिता ।।
आकाशधारणा मूर्ध्नि सर्वसिद्धिकरी स्मृता ।'

इति । भूतेभ्यः कैवल्यं, चित्तस्य ततः प्रत्याहरणम् । यदुक्तं तत्रैव--

'नाभ्यां हृदयसंचारान्मनश्चेन्द्रियगोचरात् ।
प्राणायामश्चतुर्थस्तु सुप्रशान्त इति स्मृतः ।।'

इति । हृदयान्नाभौ प्राणस्य, विषयेभ्यो मनसश्च तत्रैव संचारणादित्यर्थः । भूतेभ्यः पृथक्त्वं, तदनुपरक्तस्वच्छस्वच्छन्दचिदात्मता । यदुक्तं तत्रैव--

माहेयी कण्ठदेशे तु वारुणी घण्टिकाश्रिता ।
आकाशधारणा मूर्ध्नि सर्वसिद्धिकरी स्मृता ।।' २४ ।।
इति स्वच्छन्दशास्त्रोक्तधारणाभिर्वशीकृतिः ।
भूतेभ्यः किल कैवल्यं चित्तप्रत्याहृतिस्ततः ।। २५ ।।

'वायवी धारणाङ्गुष्ठे आग्नेयी नाभिमध्यतः ।
माहेयी कण्ठदेशे तु वारुणी घण्टिकाश्रिता ।।
आकाशधारा मूर्ध्नि सर्वसिद्धिकरी स्मृता ।
भूतकैवल्यो नाम भूतेभ्यो चित्तस्य प्रत्याहरणम् ।।
भित्त्वा क्रमेण सर्वाणि उन्मनान्तानि यानि च ।
पूर्वोक्तलक्षणैर्देवि त्यक्त्वा स्वच्छन्दतां व्रजेत् ।।'

भूतेभ्यः पृथक्त्वं, भूतानुसक्तस्य आत्मनः स्वच्छतापादनत्वम् अर्थात् सर्वाणि हृत्कण्ठादीनि यानि उन्मनान्तानि स्थानानि, पूर्वोक्तलक्षणैः भित्त्वा, एतत्सर्वं परित्यज्य

मोहावरणात् सिद्धिः ॥ ६ ॥

मोहकृतात् आवरणात् प्रोक्तधारणादिक्रमसमासादितात् तत्तत्तत्त्वभोगसिद्धिर्भवति, न तु परतत्त्वप्रकाशः ॥ ६ ॥

संघातस्थमथात्मस्थं विकरोत्यथवा विभुः ।
प्रभुशक्तिरतः सेयं सर्वत्राखण्डितात्मनः ॥ ५ ॥

तथाप्यस्यात्मनो मोहे बहुशाखे विसर्पति ।
स्वरूपसिद्धिरस्य स्यान्न स्याद्वा प्राह शंकरः ॥

'भित्त्वा क्रमेण सर्वाणि उन्मनान्तानि यानि च ।
पूर्वोक्तलक्षणैर्देवि त्यक्त्वा स्वच्छन्दतां व्रजेत् ॥'

इति । 'भूतसंधानभूतपृथक्त्वविश्वसंघट्टाः' (१-२०) इति यत् पूर्वमुक्तम्, तत् शाम्भवोपायसमाविष्टस्य अयत्नतो भवति । इदं तु आणवोपायप्रयत्नसाध्यमिति विशेषः ॥ ५ ॥

एवं देहशुद्धि-भूतशुद्धि-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधिभिर्या तत्तत्तत्त्वरूपा सिद्धिर्भवति सा मोहावरणात्, न तु तत्त्वज्ञानादित्याह--

पृथक्त्वं तदनालिप्तस्वच्छस्वात्मैकरूपता ।
'भूतसन्धान' इत्यादिसूत्रोक्तं यत्फलं पुरा ॥ २६ ॥
अप्रयत्नेन साध्यं तच्छाम्भवोपायशालिनः ।
आणवोपायसाध्यं तु यत्नेनेति विशिष्यते ॥ २७ ॥ ५ ॥

महायोगनिष्ठपुरुषो प्रगाढगाढोन्मनापदविश्रान्तिप्रकर्षात् तुर्यातीतावस्थाप्राप्तिवशात् सच्चिदानन्दस्वरूपपरमशिवदशामनुभवति । 'भूतसंधान··· ।' इत्यादिसूत्रेण प्रथम उन्मेषे यदुक्तं तत्तु शाम्भवोपायपूर्णतः प्रविष्टस्य योगिन सहजयत्नेनैव जायते । आणवोपायस्तु यत्नसाध्योऽस्ति अयमेव भेदः ॥ ५ ॥

स्वकारणे लयभावनारूपशरीरशुद्धि-भूतशुद्धि-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधिभिर्याः याः सिद्धयः सम्भवन्ति, ताः सर्वाऽपि मोहकृतावरणादेव, न तु परतत्त्व-

कामक्रोधलोभहर्षभयत्रासमदोद्गमे ।
प्रहर्षेऽपि च सर्वत्र मोह एव विजृम्भते ।।
तदेवावरणं ज्ञेयं स्वरूपाच्छादकत्वतः ।
हेतुभूतात्ततस्तस्मात्प्राक्कोटिप्रविमर्शतः ।।
सिद्धिः स्यादात्मनः सर्वज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणा ।। ६ ।।

सति मोहे सिद्धिरेवं तज्जयात्स्यात्किमाह तत् ।।

मोहयति इति मोहः, माया; तत्कृतादावरणात् प्रोक्तधारणादिक्रमसमासादिता तत्तत्त्वभोगरूपा सिद्धिर्भवति। न तु परतत्त्वप्रकाशः। यदुक्तं श्रीमल्लक्ष्मीकौलार्णवे--

'स्वयम्भूर्भगवान्देवो जन्मसंस्कारवर्जितः ।
निर्विकल्पं परं धाम अनादिनिधनं शिवम् ।।
प्रत्यक्षं सर्वजन्तूनां न च पश्यति मोहितः ।'

इति। विगलितमोहस्य तु--

'मध्यमं प्राणमाश्रित्य प्राणापानपथान्तरम् ।
आलम्ब्य ज्ञानशक्तिं च तत्स्थं चैवासनं लभेत् ।।
प्राणादिस्थूलभावं तु त्यक्त्वा सूक्ष्ममथान्तरम् ।
सूक्ष्मातीतं तु परमं स्पन्दनं लभ्यते यतः ।।

इत्येवं देहशुद्ध्याद्यैः समाध्यन्तैश्च या भवेत् ।
सिद्धिः सा मोहवरणान्नात्मज्ञानादितीर्यते ।। २८ ।।
मोहो विमोहिनी माया तत्कृतावरणात्किल ।
पूर्वोक्तधारणाद्युक्त्या सिद्धिः परिमिता भवेत् ।। २९ ।।

ज्ञानादित्याह--'मोहावरणात्सिद्धिः ।' मोहो नाम माया तज्जनित आवरणात् धारणाविक्रमसमुपलब्धा तत्तत्त्वभोगरूपा सिद्धिः सम्पद्यते। न तु परतत्त्वज्ञानप्रकाशो भवति। अत एवोक्तम्--

'स्वयम्भूर्भगवान्देवो जन्मसंस्कारवर्जितः ।
निर्विकल्पं परं धाम अनादिनिधनं शिवम् ।।
प्रत्यक्षं सर्वजन्तूनां न च पश्यति मोहितः ।'

मोहजयादनन्ताभोगात् सहजविद्याजयः ॥ ७ ॥

मोहस्य मायाया जयात् अभिभवात् कीदृशात् अनन्तः संस्कार-

बहुशाखो मोह उक्तस्तज्जयः सुप्रबुद्धता ।
नित्यं स्वालोकवशतस्त्वसंकुचितचिद्गतेः ॥

प्राणायामः स निर्दिष्टो यस्मान्न च्यवते पुनः ।
शब्दादिगुणवृत्तिर्या चेतसा ह्यनुभूयते ॥
त्यक्त्वा तां परमं धाम प्रविशेत्तत्स्वचेतसा ।
प्रत्याहार इति प्रोक्तो भवपाशनिकृन्तनः ॥
धीगुणान्समतिक्रम्य निर्ध्येयं परमं विभुम् ।
ध्यात्वा ध्येयं स्वसंवेद्यं ध्यानं तच्च विदुर्बुधाः ॥
धारणा परमात्मत्वं धार्यते येन सर्वदा ।
धारणा सा विनिर्दिष्टा भवपाशनिवारिणी ॥
स्वपरस्थेषु भूतेषु जगत्यस्मिन्समानधीः ।
शिवोऽहमद्वितीयोऽहं समाधिः स परः स्मृतः ॥'

इति श्रीमन्मृत्युजिद्भट्टारकनिरूपितनीत्या धारणादिभिरपि परतत्त्वसमावेश एव भवति, न तु मितसिद्धिः ॥ ६ ॥

तत्तत्तत्त्वोपभोगात्मा नत्वस्य परचित्प्रथा ॥ ६ ॥

विनष्टमोहावेशस्य समाधौ चाग्रतः पुनः ॥ ३० ॥

अर्थात् अनन्योन्मुखप्रेक्षित्वात्मस्वातन्त्र्यशक्तिरूपषड्विधैश्वर्यसम्पन्नो भगवान् विश्वोदयलयादिक्रीडनपरायणो द्योतनादिसतत्त्वश्च देवः सच्चिदानन्दः परमात्मैव स्वयं स्वस्वातन्त्र्येच्छाशक्त्या, न तु कारणान्तरापेक्षया, तत्तद्रुद्रादिरूपेण भवनशीलः स्फुरन् मायाप्रमातृतां प्रकाश्यं विस्मृतपरतत्त्वप्रकाशस्वरूपो नैकविधपशु-पक्षि-नृ-सरीसृपादि-जन्मनां संस्कारात्मकवासनाप्रवाहेण रहितः, स्वाधानीकृत्य परतन्त्ररूपतां नीतः, अत एव भिन्नवेद्यप्रथारूपमायीयमलेन मोहितः, सर्वप्राणिनां परतत्त्वप्रकाशं विना सत्तास्फुरत्तानुपपत्तेः अपरोक्षं चिद्रूपं स्वात्मानं नैव परामृशति ॥ ६ ॥

मोहजयेन सहजविद्याजयो भवतीति दर्शयति—'मोहजयादनन्ताभोगात्सहजविद्याजयः ।' उद्यम्सूर्यजनितानन्तसंस्कारप्रशमपर्यन्तं परस्य विस्तारो वर्तते, तादृशात्

प्रशमपर्यन्त आभोगो विस्तारो यस्य तादृशात्, सहजविद्याया जयो लाभो भवति ॥ ७ ॥

तस्मादनन्ताभोगाख्यात्स्वप्रकाशोदयः स्फुटम् ।
जयस्यानन्तता यस्माद्बहुशाखो विजृम्भते ॥

तदाह—

मोहस्य, अख्यात्यात्मकसमनान्तपाशात्मनो मायाया जयाद्, अभिभवात् । कीदृशात् ? अनन्तः, संस्कारप्रशमपर्यन्तः आभोगो, विस्तारो यस्य तादृशात्—

'वेदनानादिधर्मस्य .... ।'

इत्यादिना निरूपितरूपायाः सहजविद्याया जयो, लाभो भवति । आणवोपायस्यापि शाक्तोपायपर्यवसानादित्युक्तत्वात् । तथा च श्रीस्वच्छन्दे—

'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम् ।'

इत्युपक्रम्य—

'पाशावलोकनं त्यक्त्वा स्वरूपालोकनं हि यत् ।
आत्मव्याप्तिर्भवत्येषा शिवव्याप्तिस्ततोऽन्यथा ॥
सार्वज्ञ्यादिगुणा येऽर्था व्यापकान्भावयेद्यदा ।
शिवव्याप्तिर्भवत्येषा चैतन्ये हेतुरूपिणी ॥'

इति-ग्रन्थेन आत्मव्याप्त्यन्तस्य मोहस्य जयात् उन्मनाशिवव्याप्त्यात्मनः सहजविद्यायाः प्राप्तिरुक्ता । यदुक्तं तत्रैव—

'मध्यमं प्राणमाश्रित्य प्राणापानपथान्तरम् ।
आलम्ब्य ज्ञानशक्तिं च तत्स्थं चैवासनं लभेत् ॥ ३१ ॥
प्राणादिस्थूलभावं तु त्यक्त्वा सूक्ष्ममथान्तरम् ।
सूक्ष्मातीतं तु परमं स्पन्दनं लभ्यते यतः ॥ ३२ ॥
प्राणायामः स उद्दिष्टो यस्मान्न च्यवते पुनः ।
शब्दादिगुणवृत्तिर्या चेतसा ह्यनुभूयते ॥ ३३ ॥
त्यक्त्वा तां परमं धाम प्रविशेत्तत्स्वचेतसा ।
प्रत्याहार इति प्रोक्तो भवपाशनिकृन्तनः ॥ ३४ ॥

मोहजयाद् अज्ञानात्मकसमस्तपाशजालस्वरूपभूतायाः मायायाः तिरस्करणात् योगिनः सहजविद्याजयो लाभो भवति ॥ ७ ॥

स एवाभोग इत्युक्तः परिपूर्णस्वरूपतः ।
स्वप्रकाशात्मिका विद्या सहजा प्रागुदीरिता ॥
उद्भवः प्रोद्गमस्तस्यास्तेनात्मालोक उत्तमः ॥ ७ ॥

एवंसिद्धिः प्रबुद्धः संस्तिष्ठेन्नित्यमतन्द्रितः ।
एकत्रारोपयन्सर्वं तदर्थं प्रोक्तवानजः ॥

'आत्मतत्त्वं ततस्त्यक्त्वा विद्यातत्त्वे नियोजयेत् ।
उन्मना सा तु विज्ञेया मनः संकल्प उच्यते ॥
संकल्पात्क्रमतो ज्ञानमुन्मनं युगपत्स्थितम् ।
तस्मात्सा च परा विद्या यस्मादन्या न विद्यते ॥
वेदनानादिधर्मस्य परमात्मत्वबोधना ।
वर्जनापरमात्मत्वे तस्माद्विद्येति चोच्यते ॥
तत्रस्थो व्यञ्जयेत्तेजः परं परमकारणम् ।'

इति ॥ ७ ॥

धीगुणान्समतिक्रम्य निर्ध्येयं चाव्ययं विभुम् ।
ध्यात्वा ध्येयं स्वसंवेद्यं ध्यानं तच्च विदुर्बुधाः ॥ ३५ ॥
धारणा परमात्मत्वं धार्यते येन सर्वदा ।
धारणा सा विनिर्दिष्टा भवबन्धविनाशिनी ॥ ३६ ॥
स्वपरस्थेषु भूतेषु जगत्यस्मिन्समानधीः ।
शिवोऽहमद्वितीयोऽहं समाधि स परः स्मृतः ॥' ३७ ॥
इत्येवं मृत्युजित्तन्त्रभट्टारकनिरूपितैः ।
प्राणसंयमनारम्भैः समाध्यन्तैः क्रमैरपि ॥ ३८ ॥
परतत्त्वसमावेशो भवत्येवेति कथ्यते ।
मोहो माया निजाख्यातिस्तज्जयात्तत्पराभवात् ॥ ३९ ॥
उद्यमाकोंत्थितोऽनन्तः संस्कारप्रशमावधिः ।
आभोगो यस्य विस्तार ईदृशाद्दर्शितात्मनः ॥ ४० ॥
भवेत्सहजविद्याया जयो लाभोऽस्य योगिनः ॥ ७ ॥

एवं मोहजयोपात्तशुद्धविद्यामहोदवः ॥ ४१ ॥

जाग्रद् द्वितीयकरः ॥ ८ ॥

जाग्रत् शुद्धविद्यैकध्याप्तौ जागरूको, द्वितीयं पूर्णविमर्शात्मक-स्वाहन्तापेक्षया यत् इदन्ताविमृश्यं वेद्याभासात्मकं जगत्, तत्

ज्ञानं जाग्रदिति प्रोक्तं तेनालोच्य स्वगोचरम् ।
आदद्यादेकतः सर्वं ततो मोहबहिष्कृतम् ॥
प्रबुद्धः सर्वदा तिष्ठेद्योगिराड् भेदवर्जितः ।
करवत्कर एवातो जाग्रदादानगौरवात् ॥
अत एव द्वितीयत्वं विचित्रत्वादुदीरितम् ॥ ८ ॥

एवमयमासादितसहजविद्यः--

लब्ध्वापि शुद्धविद्यां तदैकध्यव्याप्तौ जागरूकः, पूर्णविमर्शात्मक-स्वाहन्तापेक्षया यत् द्वितीयमिदन्तावमृश्यं वेद्यावभासात्मकं जगत्, तत् करो रश्मिर्यस्य तथाविधो भवति । विश्वमस्य स्वदीधितिकल्पं स्फुरति इत्यर्थः । यथोक्तं श्रीविज्ञानभैरवे--

भक्त्वैवं सहजां विद्यां तदेकत्वावलम्बने ।
जागरूकः सदा योगी जाग्रदित्ययमुच्यते ॥ ४२ ॥
संपूर्णाहंविमर्शात्मस्वाहन्तापेक्षया जगत् ।
द्वितीयमिदमाकारं करो यस्य स्वदीधितिः ॥ ४३ ॥
तथाभूतो भवत्येष स्वकरीभूतविष्टपः ॥ ८ ॥

ईदृशोऽयं सदा स्वात्मविमर्शावेशिताशयः ॥ ४४ ॥

यस्य योगिनः सहजविद्यासंप्राप्ता तस्य स्वरूपं निर्वक्ति—'जाग्रद्द्वितीयकर ।' येन योगिना शुद्धविद्यालब्धा, तस्यां विद्यायामेकधाभावरूप ऐकध्ये-ऐकाग्र्ये जागरूको योगी परिपूर्णविमर्शात्मकस्वाहन्तापेक्षया यद्द्वितीयम् इदन्तया भासमानं यद्विश्वं वर्तते तस्य करो—रश्मिर्भवति । तादृशस्य योगिनः दृष्टौ सम्पूर्णं विश्वं स्वदीधितिकल्पम-भिव्यज्यते । यदुक्तं विज्ञानभैरवे—

करो रश्मिः यस्य तथाविधो भवति, विश्वमस्य स्वदीधितिकल्पं स्फुरति इत्यर्थः ॥ ८ ॥

नर्तक आत्मा ॥ ९ ॥

नृत्यति अन्तर्निगूहितस्वस्वरूपावष्टम्भमूलं, तत्तज्जागरादि-नानाभूमिकाप्रपञ्चं, स्वपरिस्पन्दलीलयैव स्वभित्तौ प्रकटयति; इति नर्तक आत्मा ॥ ९ ॥

इत्थं नित्यप्रबुद्धस्य मोहलक्ष्मीश्चिरोषिता ।
शरीरमाश्रयत्येव जीवन्मुक्तस्य सर्वदा ॥

'यत्र यत्राक्षमार्गेण चैतन्यं व्यज्यते विभोः ।
तस्य तन्मात्रधर्मित्वाच्चिल्लयाद्भूरितात्मता ॥'

इति । श्रीसर्वमङ्गलायामपि--

'शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते ।
शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ॥'

इति ॥ ८ ॥

ईदृशश्चायं सर्वदा स्वस्वरूपविमर्शाविष्टः--

नृत्यति, अन्तर्विगूहितस्वस्वरूपावष्टम्भमूलं तत्तज्जागरादिनाना-

नृत्यत्यन्तःपरिच्छन्नस्वरूपावलम्बनाः ।
स्वेच्छया स्वात्मचिद्भित्तौ स्वपरिस्पन्दलीलया ॥ ४५ ॥

'यत्र यत्राक्षमार्गेण चैतन्यं व्यज्यते विभोः ।
तस्य तन्मात्रधर्मित्वाच्चिल्लयाद्भूरितात्मता ॥' ११४ ॥

अर्थात् यत्र यत्र नीलसुखादौ, अक्षमार्गेण चक्षुरादिसुषिरमार्गेण विभोः परमात्मनः, चैतन्यं चित्प्रकाशो व्यज्यते । तस्य नीलसुखादेः तन्मात्रधर्मित्वात् चैतन्यव्यतिरिक्ते चेत्यत्वाभावापत्तेः दर्पणमात्रात्मकविलक्षणप्रतिबिम्बवत् चैतन्यमात्रस्वभावत्वं परामृश्य विश्वभित्तिभूतायां चित्तावेव यो लीयते तस्य परमभैरवस्वरूपतैव । यथा घनीभूतः प्रकाश एव सूर्यमण्डलं जातं तथा चिदेव हि आश्यानीभूता जगदात्मना भाति ॥ ८ ॥

अतः परानन्दरसक्षीव आत्मा सदा कथम् ।
चेष्टते सूत्रमाचष्टे तदर्थं चन्द्रशेखरः ॥
रसभावनयाभिज्ञो वागङ्गाहार्यसत्त्वयुक् ।
यद्वत्प्रौढनटः सम्यगनुगन्ता प्रकीर्तितः ॥

भूमिकाप्रपञ्चं स्वपरिस्पन्दलीलयैव स्वभित्तौ प्रकटयति इति नर्तक आत्मा । तदुक्तं श्रीनैश्वासदेवीमहेश्वरनर्तकाख्ये सप्तमपटले देवीकृतस्तवे--

'त्वमेकांशेनान्तरात्मा नर्तकः कोशरक्षिता ॥'

इति । भट्टश्रीनारायणेनापि--

'विसृष्टाशेषसद्बीजगर्भं त्रैलोक्यनाटकम् ।
प्रस्ताव्य हर संहर्तुं त्वत्तः कोऽन्यः कविः क्षमः ॥'

इति । सर्वागमोपनिषदि श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्--

'संसारनाट्यप्रवर्तयिता सुप्ते जगति जागरूक एक एव परमेश्वरः ॥'

इति ॥ ६ ॥

जागरास्वप्नसौषुप्तरूपास्तास्ताः स्वभूमिकाः ।
आभासयति यत्तस्मादात्मा नर्तक उच्यते ॥ ४६ ॥ ६ ॥

ईदृशश्चायं योगिजनो निरन्तरं स्वात्मविमर्शसमाविष्टो भवतीति प्रतिपाद्यते—'नर्तक आत्मा ।' नृत्यति, अन्तःप्रच्छन्नस्वात्मस्वरूपग्रहणशक्त्यानुसारमनेकविधजाग्रदाद्यवस्थाप्रपञ्चं स्वस्वातन्त्र्यशक्त्या चिद्भूमावेव उन्मीलयति । अर्थात् आत्मा स्वकीयेच्छाशक्त्या आश्रयभूतायां चिति स्वपरिस्पन्दनलीलयैव जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्तिरूपभूमिकासु अभिनयन् आभासितस्य वस्तुनो निमित्तं भवति नर्तक इव ।

यदुक्तम् उत्पलाचार्यैः—

'संसारनाट्यप्रवर्तयिता सुप्ते जगति जागरूक एक एव परमेश्वरः ।'

तथा चोक्तं महार्थमञ्जर्याम्—

'य एष विश्वनाटकशैलुषः शुद्धसंविच्छम्भुः ।
वर्णकपरिग्रहमयी तस्य दशा कापि पुरुषो भवति ॥ १९ ॥

यतो हि महेश्वरः सर्वमहमेवास्मीति वैश्वात्म्यप्रथानुभूतिसारचमत्कारोत्तरतया परिच्छिन्नभावशून्यां स्वातन्त्र्यस्वभावविद्यामयीं संविदमनुभवन् जगन्नाटकस्य शैलुषो नरः कथ्यते ॥ ९ ॥

रङ्गोऽन्तरात्मा ॥ १० ॥

रङ्गः तत्तद्भूमिकाग्रहणस्थानम्, अन्तरात्मा संकोचावभासासतत्त्वः शून्यप्रधानः प्राणप्रधानो वा पुर्यष्टकनियन्त्रितो जीवः। तत्र हि अयं कृतपदः स्वकरणपरिस्पन्दक्रमेण जगन्नाट्यमाभासयति ॥१०॥

तद्वदात्मा स्वरूपेण स्फुरन्स्फुरति सर्वतः।
तत्तद्भावरसावेशात्तत्तच्चेष्टाविलासवान् ॥
स नर्तकः स्मृतो यस्मात्सर्वावस्थावलम्बकः ॥ ९ ॥

नृत्यतोऽस्यात्मनः सम्यगाधारार्थमतोऽवदत् ॥
बहिरुन्मेषभागेऽयमात्मा नर्तक उच्यते।
तस्यैवान्तर्निमेषो यः सोऽन्तरात्मा प्रकीर्तितः ॥

एवं-विधस्य अस्य जगन्नाटचनर्तकस्य भूमिकाग्रहण-पदबन्धस्थानरङ्गमाह—

रज्यतेऽस्मिन् जगन्नाटचक्रीडाप्रदर्शनाशयेनात्मना इति रङ्गः, तत्तद्भूमिकाग्रहणस्थानम्; अन्तरात्मा, संकोचावभाससतत्त्वः शून्यप्रधानः प्राणप्रधानो वा पुर्यष्टकरूपो देहापेक्षया अन्तरो जीवः। तत्र हि अयं कृतपदः

एवंविधजगन्नाटचनर्तकस्यास्य योगिनः।
भूमिकाग्रहणस्थानं रङ्गमाह जगद्गुरुः ॥ ४७ ॥
रज्यतेऽस्मिन् जगन्नाटचक्रीडाकौतुकिनात्मना।
इति रङ्गोऽन्तरात्मेति जीवः पुर्यष्टकात्मकः ॥ ४८ ॥

सम्प्रति अस्य विश्वनाटचप्रवर्तकस्य भूमिकाग्रहणस्थानरङ्गमाह—'रङ्गोऽन्तरात्मा।' अनेकविधकार्यकारणभावात्मकविततसंसारनाटचक्रीडाकौतुकिनात्मना यत्र रज्यते स रङ्गः, तत्तद्विचित्रभूमिकाग्रहण-पदबन्धस्थानं; अन्तरात्मा, प्राणपुर्यष्टकनियन्त्रितो जीवः संकोचावभाससतत्त्वः शून्य प्रधानो वा। तत्र हि अयं योगिजनः कृतपदः स्वेन्द्रियस्पन्दलीलया—सहजस्वातन्त्र्यशक्तिविस्फुरणतात्मान्तरेन्द्रियपरिस्पन्दनक्रमेण सदाशिवादिधरण्यन्तविश्वनाटचं प्रकाशयति।

प्रेक्षकाणीन्द्रियाणि ॥ ११ ॥

संसारनाट्यप्रकटनप्रमोदनिर्भरं स्वस्वरूपम् अन्तर्मुखतया साक्षात् कुर्वन्ति ॥ ११ ॥

स एव रङ्ग आख्यातः पुर्यष्टकसमाश्रयात् ।
प्रवृत्तिस्थितिसंहारैर्नृत्यतीवात्र चिद्विभिः ॥ १० ॥

एवं सतीन्द्रियगणस्तस्यानाच्छादको भवेत् ।
तदर्थं पुनरप्याह सूत्रं कान्तार्धदेहभृत् ॥

स्वकरणपरिस्पन्दक्रमेण जगन्नाट्यमाभासयति । उक्तं च श्रीस्वच्छन्दे—

'पुर्यष्टकसमावेशाद्विचरन्सर्वयोनिषु ।
अन्तरात्मा स विज्ञेयः............... ॥'

इति ॥ १० ॥

इत्थं अन्तरात्मरङ्गे नृत्यतोऽस्य—
योगिनश्चक्षुरादीनि इन्द्रियाणि हि संसारनाट्यप्रकटनप्रमोदनिर्भरं

योगी कृतपदस्तत्र स्वेन्द्रियस्पन्दलीलया ।
सदाशिवादिक्षित्यन्तजगन्नाट्यं प्रकाशयेत् ॥ ४९ ॥ १० ॥

देहान्तरंगे रंगेऽस्मिन्नृत्यतः स्वान्तरात्मनि ।
प्रेक्षकाणीति संसारनाट्यप्राकट्यकृद्वपुः ॥ ५० ॥

तथा चोक्तं स्वच्छन्दतन्त्रे—

'पुर्यष्टकसमावेशाद्विचरन्सर्वयोनिषु ।
अन्तरात्मा स विज्ञेयः......... ॥'

अर्थात् य एष रागादिपञ्चकञ्चुकमात्रशरीरः प्रकृतिलीनोऽयम् आत्मैव आन्तर-लिङ्गदेहारम्भक-शब्दादितन्मात्रपञ्चक-मनोबुद्धहङ्कारात्मकपुर्यष्टकसम्पर्कात् शुभाशुभविषय-वासनाभिः निबद्धः सन् योनेर्योन्यन्तरं परिभ्रमति, तयोः स्वान्तरिकबाह्यात्मनोर्व्यवस्थितो-ऽन्तरात्मा विज्ञेयः ॥ १० ॥

एवं देहान्तरङ्गेऽस्य नर्तकस्य इन्द्रियाणि दर्शकस्थानीयानि भवन्तीति निर्दि-शति—'प्रेक्षकाणीन्द्रियाणि ।' सुप्रबुद्धश्चिदात्मा एव इन्द्रियाणामवभासयिता अस्ति ।

धीवशात् सत्त्वसिद्धिः ॥ १२ ॥

धीः तात्त्विकस्वरूपविमर्शनविशदा धिषणा, तद्वशात् सत्त्वस्य

सुप्रबुद्धः स्वतन्त्रश्च चिदात्मैव यतः परः ।
तत्सामर्थ्यादिन्द्रियाणि चेष्टन्ते स्वासु वृत्तिषु ॥
प्रेक्षकाणीव तान्यत्र चिद्विभोः परिनृत्यतः ।
स्वरूपावरणे चास्य तानि न प्रभवन्ति हि ॥ ११ ॥

तदेवं सति यद्बुद्धिवशात्सर्वोत्कटः पुमान् ।
प्रभवत्येव भगवांस्तदर्थं सूत्रमुक्तवान् ॥

स्वस्वरूपम् अन्तर्मुखतया साक्षात्कुर्वन्ति, तत्प्रयोगप्ररूढचा विगलितविभागं चमत्कारसंपूर्णतामापादयन्ति । यच्छ्रुतिः--

'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमश्नन् ॥'
(कठोपनिषदि अ० २ । व० ४ । मं० १) ।

इति ॥ ११ ॥

अस्य च--

धीः, तात्त्विकस्वरूपविमर्शनविशारदा [विशदा] धिषणा तद्वशात्

चक्षुरादीन्द्रियाण्यन्तश्चमत्कुर्वन्ति योगिनः ॥ ११ ॥

इत्येवं प्रेक्षकीभूतस्वाक्षचक्रस्य योगिनः ॥ ५१ ॥

यतो हि तस्य आत्मज्योतिषः प्रदीप्त्या सर्वमिदं नामरूपात्मकं परिदृश्यमानं विश्वं प्रकाशते, तं प्रकाशमानमेव अनुसृत्य सूर्यादिकं ज्योतिः प्रकाशं लभते, अन्यथा जडान्धमूकप्रायं विश्वं भवेदिति । अत एव तदनुप्राणितानि श्रोत्रत्वगक्षिरसनघ्राणाख्यानि इन्द्रियाणि त्रैलोक्यनाटकप्रदर्शनप्रमोदनिर्भरं विगलिताहन्तेदन्तारूपविभागं 'शिवोऽहमस्मीति' स्वात्मानमवगम्य सहृदयदर्शक इव प्रत्यगात्मदृशे महायोगनिष्ठपुरुषाय परामृतमयरसचमत्करणं संपादयन्ति । येन अस्य पामरप्राणिन इव खेचर्यादिभिः आच्छाद्यमानाभेदप्रथामृतरसभूत इन्द्रियसमूहः आध्यात्मिकादिदुःखमयसंसारसरणौ नैव परिभ्रमति । तस्मात् परिनृत्यतः चिदात्मनः स्वरूपं नाव्रियते ॥ ११ ॥

स्फुरत्तात्मनः सूक्ष्मस्य आन्तरपरिस्पन्दस्य अभिव्यक्तिर्भवति। नाट्ये च सात्त्विकाभिनयसिद्धिः बुद्धिकौशलादेव लभ्यते ॥ १२ ॥

सिद्धः स्वतन्त्रभावः ॥ १३ ॥

सिद्धः संपन्नः स्वतन्त्रभावः सहजज्ञत्वकर्तृत्वाद्यात्मकम् अशेष-विश्ववशीकारि स्वातन्त्र्यम् ॥ १३ ॥

शब्दादिविषया वृत्तिश्चिद्रूपाभिनिवेशिनी।
यदा भवेत्तदा बुद्धिस्तत्रैवाध्यवसायिनी ॥
पूर्वं भवत्यतः शुद्धा सैव धीशक्तिरुच्यते।
त्यक्ताशयत्वात्सत्त्वस्य भित्तिः सोऽवधिरुच्यते ॥
तद्वशात्सत्त्वसिद्धिः स्यादत एव निरूपितम् ॥ १२ ॥

सत्त्वस्य स्फुरत्तात्मनः सूक्ष्मस्य आन्तरपरिस्पन्दस्य सिद्धिरभिव्यक्तिर्भवति। नाट्ये च सात्त्विकाभिनयसिद्धिर्बुद्धिकौशलादेव लभ्यते ॥ १२ ॥

एवं स्फुरत्तात्मकसत्त्वासादनादेव अस्य योगिनः--

सिद्धः, संपन्नः; स्वतन्त्रभावः, सहजज्ञत्व-कर्तृत्वात्मकम् अशेषविश्व-वशीकारि स्वातन्त्र्यम्। यदुक्तं श्रीश्रीनाथपादैः--

धीस्तात्त्विकस्वचिद्रूपविमर्शकुशला मतिः।
तद्वशादेव सत्त्वस्य स्पन्दस्यान्तर्विवर्तिनः ॥ ५२ ॥
स्फुरत्तारूपिणः सिद्धिरभिव्यक्तिः स्फुटं भवेत् ॥ १२ ॥

एवं निजस्फुरत्तात्मसत्त्वासादनवैभवात् ॥ ५३ ॥

सुप्रबुद्धयोगिनश्च ऋतम्भरयैव प्रज्ञयैव स्वात्मरूपाभिव्यतिर्भवतीति प्रतिपाद्यते— 'धीवशात्सत्त्वसिद्धिः।' धीस्तात्त्विकवस्तुनः स्वरूपचिन्तनजनितवैशद्ययुक्ता भवति, तस्माच्च सत्त्वस्य सहजस्वातन्त्र्यशक्तिविस्फुरत्तात्मकान्तरपरिस्पन्दचिद्रूपस्य सिद्धि-रभिव्यक्तिः स्फुटं भवेत्। तथा नाट्येऽपि सात्त्विकस्वरूपाभिनयस्य सिद्धिस्तु बुद्धिपाटवा-देव जायते ॥ १२ ॥

इत्थं निजस्फुरत्तात्मकसत्त्वस्य आसादनवैभवादेव अस्य स्वातन्त्र्यसिद्धिरुप-लभ्यते इति दर्शयति—'सिद्धः स्वतन्त्रभावः।' येन शिवाद्यारभ्य पृथिवीतत्त्वपर्यन्तं

इत्थं सति स्वतन्त्रत्वमात्मनः स्यादतोऽवदत् ।
स्वातन्त्र्यमस्य संसिद्धमात्मनः प्रोक्तरीतितः ॥ १३ ॥

सर्वज्ञत्वक्रियावत्त्वाच्छरीरेऽस्मिन्यथा तथा ॥
सर्वत्र स्यान्न वा तत्र प्राहात्र शशिभूषणः ।

'श्रयेत्स्वातन्त्र्यशक्तिं स्वां सा श्रीकाली परा कला ।'

इति । श्रीस्वच्छन्देऽपि--

'सर्वतत्त्वानि भूतानि मन्त्रवर्णाश्च ये स्मृताः ।
नित्यं तस्य वशास्ते वै शिवभावनया सदा ॥'

इति ॥ १३ ॥

सिद्धः संपन्न एवास्य भवेत्परमयोगिनः ।
स्वतन्त्रभावः सहजज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणः ॥ ५४ ॥
स्वातन्त्र्यं वशिनो विश्वस्ववशीकरणक्षमम् ॥ १३ ॥

स्वतन्त्रभाव एवास्य स्वानन्दभरितात्मनः ॥ ५५ ॥

समग्रं जगदिदं क्रियते, दृश्यते, प्रकाश्यते, स्ववशे स्थाप्यते च सोऽस्य सहजज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणस्वतन्त्रभावः स्ववशीकरणक्षमोऽस्ति । यथा रासायनिकौषधिद्वारा संसिद्धवस्तु सुवर्णरूपतां प्राप्नोति, एवं परमशिवस्वरूपविशुद्धभावनया अशेषं विश्वमिदम् अस्य सुप्रबुद्धस्वतन्त्रयोगिनः स्ववशीभूतं भवति । तथा चोक्तं स्वच्छन्दतन्त्रे—

'सर्वतत्त्वानि भूतानि मन्त्रवर्णाश्च ये स्मृताः ।
नित्यं तस्य वशास्ते वै शिवभावनया सदा ॥ ७-२४२ ॥

अर्थात् समग्रविषयात्मोल्लासस्य परमशिवाद्वयस्वस्वरूपतादात्म्येन विमर्शबलादेव जलाग्न्यादीनि तत्त्वानि, भूतानि व्याघ्रादिहिंसकप्राणिनः, देहेऽवस्थिताः शब्दराशिरूपात्मकमन्त्रवर्णाश्च स्वतन्त्रश्चिदात्मनः योगिजनस्यास्य नित्यं वशीभूताः भवन्ति ॥ १३ ॥

यथा तत्र तथान्यत्र ॥ १४ ॥

यत्र देहे योगिनः स्वाभिव्यक्तिर्जाता, तत्र यथा तथा अन्यत्र सर्वत्र सदाऽवहितस्य सा भवति ॥ १४ ॥

आत्मनाधिष्ठिते देहे यद्वत्सर्वज्ञतादयः ।
स्फुरन्ति तद्वत्सर्वत्र स्वाधिष्ठानबलेन च ॥ १४ ॥

एष स्वतन्त्रभावोऽस्य--

यत्र देहे योगिनः स्वाभिव्यक्तिर्जाता तत्र यथा, तथा अन्यत्र सर्वत्र सदाऽवहितस्य सा भवति । यथोक्तं श्रीस्वच्छन्दे--

'स्वच्छन्दश्चैव स्वच्छन्दः स्वच्छन्दो विचरेत्सदा ।'

इति । श्रीस्पन्देऽपि--

'लभते, तत्प्रयत्नेन परीक्ष्यं तत्त्वमादरात् ।
यतः स्वतन्त्रता तस्य सर्वत्रेयमकृत्रिमा ॥'

इति ॥ १४ ॥

यत्र स्वाभाविके देहे स्फुटीभूता स्वतन्त्रता ।
यथा तत्र तथान्यत्र देहे भवति योगिनः ॥ ५६ ॥
स्फुटीभवति युक्तस्य पूर्णाहन्तास्वरूपिणी ॥ १४ ॥

साम्प्रतं योगिनः स्वतन्त्रभावः प्रदर्श्यते—'यथा यत्र तथान्यत्र ।' शिवाभिन्न-संप्राप्तयोगनिष्ठसुप्रबुद्धसाधकस्य यत्र स्वाभाविके देहे यथा स्वरूपाभिव्यक्तिरूपा स्वतन्त्रता स्फुटीभूता । तथा अन्यत्र देहेऽपि सदा अवहितस्य योगिनः सा पूर्णाहन्तारूपिणी अवस्था स्फुटीभवति ।

तथा चोक्तं स्पन्दकारिकायाम्—

'लभते तत्प्रयत्नेन परीक्ष्यं तत्त्वमादरात् ।
यतः स्वतन्त्रता तस्य सर्वत्रेयमकृत्रिमा ॥' ७ ॥

अर्थात् प्राकृतं जडमपि एतत् बाह्याभ्यन्तरं करणवर्गं प्रवृत्या चेतनव्यापारसमर्थं यत्संस्पर्शमात्रेण जायते, तत् तत्त्वात्मत्वेन प्रकटीकृतं सत्, इन्द्रियचैतन्यापादनस्वातन्त्र्य-वत् समग्रवेद्यविषयस्वातन्त्र्यप्राप्तये प्रकल्पते एव; अतः परीक्ष्यं, येन अभ्यासावस्थायामेव प्रकाशमाने स्वतन्त्रभावे परकायावेशादिक्रीडा उपपद्यते । तस्मात् तत्तत्त्वं प्रकृष्टयत्नेन सततम् अविलुप्तोद्योगेन श्रद्धातिशयात् परीक्षितव्यम् ॥ १४ ॥

बीजावधानम् ॥ १५ ॥

बीजे परशक्त्यात्मनि विश्वकारणे, अवधानं भूयो भूयः चित्तनिवेशनं, कर्तव्यम् इति शेषः ॥ १५ ॥

कर्तुरेवं स्वतन्त्रस्य विशतोऽन्यपुरादिषु ॥
तद्धर्मोपहितस्यास्य स्यादकालपदस्थितिः ।
कथं ? तदर्थं कालारिः प्राह सूत्रं यथार्थवत् ॥
सृष्टिस्वभावाच्चिद्रूपात्प्रवृत्तिकलनात्मना ।
जातस्य कालवपुषः स्पन्दस्यैवात्र चित्पदे ॥
जन्म न स्यात्संकलनात्तस्य संकल्पजस्य च ।
बहिर्बाह्यपदार्थानां पृथक्संस्थित्यभावतः ॥

न चैवमपि उदासीनेन अनेन भाव्यम् अपि तु—

कर्तव्यमिति शेषः । बीजं विश्वकारणं स्फुरत्तात्मा परा शक्तिः । यदुक्तं श्रीमृत्युजिद्भट्टारके--

'सा योनिः सर्वदेवानां शक्तीनां चाप्यनेकधा ।
अग्नीषोमात्मिका योनिस्ततः सर्वं प्रवर्तते ॥'

इत्यादि । तत्र परशक्त्यात्मनि बीजे, अवधानं भूयो भूयश्चित्तनिवेशनं कार्यम् ॥ १५ ॥

नचैवमप्युदासीनेन भाव्यं योगिनापि तु ॥ ५७ ॥
स्फुरत्तात्मा परा शक्तिर्बीजं विश्वस्य कारणम् ।
तत्रावधानं चित्तस्य भूयो भूयो निवेशनम् ॥ ५८ ॥
योगिना सावधानेन कर्तव्यमिति शिष्यते ॥ १५ ॥

एवं च योगिना उदासीनभावेन नैव भवितव्यं प्रत्युत—'बीजावधानम् ।' अत एव स्फुरत्तात्मा परा शक्तिर्बीजं सर्वस्य जगतो निमित्तमस्ति । तत्र विश्वसंविच्छक्त्यात्मनि बीजे, अवधानं तद्विमर्शः चित्तस्य भूयो भूयो निवेशनं प्रबुद्धयोगिना सावधानेन मनसा कार्यम् ॥ १५ ॥

आसनस्थः सुखं ह्रदे निमज्जति ॥ १६ ॥

आस्यते नित्यमैकात्म्येन स्थीयते अस्मिन् इति परं शाक्तं बलम्, यस्तत्र तिष्ठति परिहृतपरापरध्यानधारणादिसर्वक्रियाप्रयासो

प्रकाश्यानां प्रकाशैक्यभावनापथसेविनाम् ।
स्वस्माद्धाम्नः प्रच्यवनं नास्ति योगनिभालनात् ।
अकालकामजा सैव स्यादकालपदाश्रयात् ॥
अकालपदसंप्राप्तौ यो हेतुस्तमतोऽवदत् ।
बीजं सर्वस्य जगतश्चिदात्मैव परं स्मृतम् ।
अवधानं तद्विमर्शः सावधानेन चेतसा ॥
तदाकालपदप्राप्तिर्मोहाद्याग्रहहानितः ।
सर्वभावोद्भवभुवः प्रवेशोऽन्तश्चिदात्मनः ॥

एवं हि सति असौ योगी--

आस्यते, नित्यमैकात्म्येन स्थीयते अस्मिन् इति आसनं, परं शाक्तं बलम्; यस्तत्र तिष्ठति, परिहृतपरापरध्यानधारणादिसर्वक्रियाप्रयासो नित्यमन्तर्मुखतया तदेव परामृशति यः, स सुखमनायासतया, ह्रदे, विश्वप्रवाहप्रसरहेतौ स्वच्छोच्छलत्तादियोगिनि परामृतसमुद्रे निमज्जति, देहादिसंकोचसंस्कारब्रोडनेन तन्मयीभवति । यदुक्तं श्रीमृत्युजिद्भट्टारके एव--

'नोर्ध्वे ध्यानं प्रयुञ्जीत नाधस्तान्न च मध्यतः ।
नाग्रतः पृष्ठतः किञ्चिन्न पार्श्वे नोभयोरपि ॥

एवंविधो महायोगी परशक्त्यवधानवान् ॥ ५९ ॥
आस्यते स्थीयते यस्मिन्नैकात्म्येनेति चासनम् ।
शाक्तं बलं यत्तत्रस्थस्तदेवान्तः परामृशन् ॥ ६० ॥
योगी परिहृतध्यानधारणादिपरिश्रमः ।
खेचर्यादिमहास्रोतोवाहप्रसरकारणे ॥ ६१ ॥

एवंविधो योगी शाक्तबलं प्राप्य शाम्भवपदे विश्रान्ति लभते इति निर्दिशति—
'आसनस्थः सुखं ह्रदे निमज्जति ।' आस्यते स्थीयते यस्मिन्नित्यैकात्म्यभावेनेति आसनम्

नित्यमन्तर्मुखतया तदेव परामृशति, स सुखम् अनायासतया परामृतसमुद्रे निमज्जति, देहादिसंकोचसंहारत्रोडनेन तन्मयीभवति ॥ १६ ॥

कथं पुनर्योगिवृत्त्या स्यादत्र प्राह शंकरः ।
पवमानः शुचिश्चण्डो मध्यमः प्राण आसनम् ।
योगिनां ज्ञानपूर्वाणां सन्मतस्यवलनात्मना ॥
पूर्वमुक्तं च तत्रस्थः सुखं मज्जति तद्ध्रदे ।
ह्लदत्वमत्र प्रागुक्तं सर्वभावोद्भवत्वतः ॥
चिद्रूपस्य च बीजत्वमत एव निरूपितम् ।
अवधानानुप्रवेशावत्रोपायावुदाहृतौ ॥
कालकामजयायैवमजामरपदाप्तये ॥ १६ ॥

नान्तः शरीरसंस्थं तु न बाह्ये भावयेत्क्वचित् ।
नाकाशे बन्धयेल्लक्ष्यं नाधो दृष्टि निवेशयेत् ॥
न चक्षुर्मीलनं किञ्चिन्न किंचिद्दृष्टिबन्धनम् ।
अवलम्बं निरालम्बं सालम्बं नैव भावयेत् ॥
नेन्द्रियाणि न भूतानि शब्दस्पर्शरसादयः ।
एवं त्यक्त्वा समाधिस्थः केवलं तन्मयीभवेत् ॥
सावस्था परमा प्रोक्ता शिवस्य परमात्मनः ।
निराभासं पदं तत्तु तत्प्राप्य विनिवर्तते ॥'

इति ॥ १६ ॥

स्वच्छत्वादिगुणैर्युक्ते स्वानन्दभरिते ह्लदे ।
संप्लुतेदंपदद्वीपे संपूर्णे संविदर्णवे ॥ ६२ ॥
निरस्तसकलोपायो निमज्जति यथासुखम् ।
देहादित्रोडनेनैव तन्मयीभवति स्फुटम् ॥ ६३ ॥ १६ ॥

शाक्तबलम्; यस्तत्र तिष्ठति संत्यक्तध्यानधारणादिसमस्तक्रियापरिश्रमस्तदेवान्तर्भाविन यो विमृशति, स यथा सुखं सहजभावेन, ह्लदे—संविदर्णवे निमज्जति, देहादिसंकोचसंस्कारत्रोडनेनैव तादात्म्यभावं प्राप्नोति ॥ १६ ॥

स्वमात्रानिर्माणमापादयति ॥ १७ ॥

स्वस्य चैतन्यस्य संबन्धिनी मात्रा चिद्रसाश्यानतात्मांशः, तद्रूपं यथेष्टवेद्यवेदकावभासात्मकं निर्माणमापादयति निर्मितत्वेन दर्शयति ॥ १७ ॥

एवं कर्त्रंशविश्रामस्तत्स्वातन्त्र्यमखण्डितम् ॥
तेन कर्तृत्वमस्य स्यात्तदाह वृषलाञ्छनः ।
स्वा शक्तिः परमेशस्य ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणा ।
यावद्वीर्यं बलं तस्य भवप्रभवकारणम् ॥

तदेवं नाडीसंहाराद्याणवोपायक्रमासादितमोहजयोन्मज्जच्छुद्ध-विद्यात्मकशाक्तबलासादनप्रकर्षाद् आत्मीकृतपरामृतह्लदात्मकशाम्भवपदो योगी--

स्वस्य चैतन्यस्य संबन्धिनी मात्रा चिद्रसाश्यानतात्मा अंशः, तद्रूपं यथेष्टवेद्यवेदकावभासात्मकं निर्माणमापादयति, निर्मितत्वेन दर्शयति । यदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे--

इत्येवमाणवोपायासादितान्मोहनिर्जयात् ।
उन्मज्जच्छुद्धविद्यात्मशाक्तावेशप्रकर्षतः ॥ ६४ ॥
आत्मीकृतपरानन्दह्लदगाढावगाहनात् ।
प्रस्फुरच्छाम्भवावशवैभवः साधकोत्तमः ॥ ६५ ॥

तस्मात् योगनिष्ठपुरुष आणवोपायक्रमेण शाक्तबलप्रकर्षतः शाम्भवदमाप्नुवन् स्वस्वातन्त्र्यशक्त्या स्वमात्रां निर्मातुं शक्नोतीति दर्शयति--'स्वमात्रा निर्माणमापादयति ।'

पूर्वोक्तरूपिणी स्वस्य चैतन्यस्य सम्बन्धिनी मात्रा चिद्रसाश्यानता ग्राह्यग्राहकात्मकपरिमितात्मांशो वर्तते, तदात्मकं स्वेच्छया यथेष्टं ज्ञातृज्ञानप्रकाशरूपं निर्माणं संपादयति, योगिना निर्मितत्वेन दर्शनं क्रियते ।

तथा चोक्तं स्वच्छन्दतन्त्रे--

अतश्च सा जगन्माता तस्य शक्तिमतः परा ।
तया स्वमात्रा निर्माणं यथास्वं रोचते विभोः ॥
तथा संपादयत्यासु तत्स्वातन्त्र्यबलादलम् ॥ १७ ॥

एवमस्य च यद्रूपं तदा बुद्धचा मलावृतम् ॥

'तदेव भवति स्थूलं स्थूलोपाधिवशात्प्रिये ।
स्थूलसूक्ष्मविभेदेन तदेकं सुव्यवस्थितम् ॥'

इति । प्रत्यभिज्ञायामपि—
'आत्मानमत एवायं ज्ञेयीकुर्यात्पृथक्स्थिति ।
ज्ञेयं न तु .... ॥'

इति । आगमेऽपि—
'जलं हिमं च यो वेद गुरुवक्त्रागमात्प्रिये ।
नास्त्येव तस्त कर्तव्यं तस्यापश्चिमजन्मता ॥'

इति अनेनैव आशयेन उक्तम् । एतदेव—
'इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
स पश्यन्सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥'

इति-अनेन स्पन्दे प्रतिपादितम् ॥ १७ ॥

स्वस्य संबन्धिनी मात्रा चैतन्यस्योक्तरूपिणः ।
आश्यानता मितात्मांशो ग्राह्यग्राहकलक्षणः ॥ ६६ ॥
निर्माणापादनं तस्या निर्मितत्वेन दर्शनम् ।
संपादयति योगीन्द्रो यथेष्टं स्पष्टमिच्छया ॥ ६७ ॥

'तदेव भवति स्थूलं स्थूलोपाधिवशात्प्रिये ।
स्थूलसूक्ष्मविभेदेन तदेकं सुव्यवस्थितम् ॥'

यतो हि ज्ञानप्रकाशात्मा परमशिवो निरन्तरं स्वस्वातन्त्र्यशक्त्या असूक्ष्माभासरूपेण प्रस्फुरति, एवं च स एव विचित्रवेद्यस्फुर्त्या उपाधीयते, व्यापकवस्तु व्याप्यरूपेण प्रकाशते । तस्मात् व्याप्यवस्तु व्यापकव्यतिरिक्तं नैव भवितुमर्हति । अत एव स उपाधिः चिद्रूप एव भवति, तस्मात् स तत्त्व वस्तु नातिरिक्तमस्ति ।

यदुक्तं प्रत्यभिज्ञायाम्—

बिद्याविनाशे जन्मविनाशः ॥ १८ ॥

विद्याया अविनाशे सततोन्मग्नतया स्फुरणे, जन्मनः अज्ञान-

तद्विनाशात्पुनर्जन्म न भवेत्तत्र चावदत् ।
सोपाधिका वेदनीया पदार्थविषयैव या ।
अशुद्धा सा स्मृता विद्या पुनः संभवकारणम् ॥

न चैवं स्वशक्तिनिर्मितभूतभावशरीरवतोऽस्य जन्मादिबन्धः कश्चिदित्याह--

प्रोक्तायाः सहजविद्याया अविनाशे सततोन्मग्नतया स्फुरणे, जन्मनः अज्ञानसहकारिकर्महेतुकस्य दुःखमयस्य देहेन्द्रियादिसमुदायस्य, नाशो विध्वंसः संपन्न एव । यदुक्तं श्रीकण्ठ्याम्--

एवमीदृशशक्त्युत्थविश्वरूपस्य योगिनः ।
पुनर्जन्मादिसंबन्धो न कश्चिदिति कथ्यते ॥ ६८ ॥

आत्मानमत एवायं ज्ञेयी कुयात् पृथक् स्थितिः ।
ज्ञेयं न तु तदौन्मुख्यात् खण्डयेतास्य स्वतन्त्रता ॥ १-४-१५ ॥

अयं स्वयं प्रकाशात्मा योगी स्वात्मानं ज्ञातृस्वरूपत्वात् अज्ञेयमपि ज्ञेयीकरोति । पृथक्तया ज्ञेयसापेक्षत्वे पृथक् प्रकाशात् बहिर्भूता स्थितिः ज्ञेयवस्तुनः नैव भवति । पृथक्तया ज्ञानसापेक्षत्वे ज्ञातृत्वं हीयते । तस्मात् पृथक् प्रकाशात् बहिर्भूता स्थितिः ज्ञेयवस्तुनो नैव भवतुमर्हति । एवं च जलहिमयोरिव शिव-तच्छक्तिरूपजगतो चिद्रस-तदाश्यानतासंवेदनात् परशाक्तबलप्राप्तवतां योगिनां पुनर्जन्म नास्ति । स तु जीवन्मुक्तदशायां विहरति । यदुक्तं स्पन्दकारिकायाम्—

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥ ३० ॥

इत्येवं उक्तप्रकारेण यस्य योगिनः संवित्तिः ज्ञानमस्ति, सोऽखिलं जगत् क्रीडारामतया विभावयन्नित्ययुक्तत्वाच्च बन्धहेतोरज्ञानस्य विनाशात् जीवन्नेव विमुक्तो भवति, नात्र संशयः ॥ १७ ॥

पूर्वोक्तपरशाक्तबलसम्पन्नस्य विश्वरूपयोगिनो न जन्मादिबन्धः कश्चिदित्याह— 'विद्याविनाशे जन्मविनाशः ।' विद्या सहजा तस्या अविनाशः सततोन्मग्नता, तया उदिते

सहकारिकर्महेतुकस्य दुःखमयस्य देहेन्द्रियादिसमुदायस्य नाशो विध्वंसः संपन्न एव ॥ १८ ॥

स्यात्तद्विनाशः सहजविद्योदयनिभालनम् ।
सति तेन स्वतन्त्रत्वव्यक्तिः स्यादात्मनः परा ॥
अत एव पुनर्जन्म न भवेत्स्वबलाश्रयात् ।
जीवन्मुक्तिरियं सिद्धिरकालपददायिनी ॥ १८ ॥

'सप्रपञ्चं परित्यज्य हेयोपादेयलक्षणम् ।
तृणादिकं तथा पर्णं पाषाणं सचराचरम् ॥
शिवाद्यवनिपर्यन्तं भावाभावोपबृंहितम् ।
सर्वं शिवमयं ध्यात्वा भूयो जन्म न प्राप्नुयात् ॥'

इति । श्रीस्वच्छन्दे—

'स्वनिर्वाणं परं शुद्धं गुरुपारम्परागतम् ।
तद्विदित्वा विमुच्येत गत्वा भूयो न जायते ॥'

इति । श्रीमृत्युजित्यपि—

'तत्त्वत्रयविनिर्मुक्तं शाश्वतं त्वचलं ध्रुवम् ।
दिव्येन योगमार्गेण दृष्ट्वा भूयो न जायते ॥'

इति ॥ १८ ॥

विद्येति सहजा तस्या अविनाशः सदोदयः ।
तेनैवाज्ञानसहकृत्तत्तत्कर्मानुषङ्गिणः ॥ ६९ ॥
देहप्राणमनीषादिसमुदायस्य जन्मनः ।
विनाशो मूलविध्वंसो भवत्यस्येति शिष्यते ॥ ७० ॥

सति जन्मनः जननमरणरूपसंसृतेः अज्ञानसहकारिक्रिया निमित्तकस्य दुःखमयस्य देहेन्द्रियादिसमूहस्य विनाशो विध्वंसो भवति अस्य योगिनः ।

यथोक्तं मृत्युजिति अपि—

'तत्त्वत्रयं विनिर्युक्तं शाश्वतं त्वचलं ध्रुवम् ।
दिव्येन योगमार्गेण दृष्ट्वा भूयो न जायते ॥'

नर-शक्ति-शिवाख्यं तत्त्वत्रयं, शाश्वतं, ध्रुवं, नित्यम्, अचलम् अपरिवर्तन-

कवर्गादिषु माहेश्वर्याद्याः पशुमातरः ॥ १९ ॥

अधिष्ठात्र्यो भवन्ति, इति शेषः । ज्ञानाधिष्ठानं मातृका (१-४) इति सामान्येनोक्तम्, इदं तु प्राप्ततत्त्वोऽपि प्रमाद्यन्

वेदनीयपरा येयं बाह्यार्थोपाधिरञ्जनात् ।
विद्या तत्प्रेरणे हेतुः क इत्यत्रोक्तवानजः ॥
सर्वात्मकस्वरूपस्य शब्दराशेः कलामयम् ।
यद्रूपं पूर्वमादिष्टं पशोः शब्दानुवेधतः ॥
प्रत्ययोत्पादकं सम्यक् तद्द्विरूपं प्रकीर्तितम् ।
बीजयोनिप्रभेदेन तत्र बीजं शिवः स्वयम् ॥

यदा तु शुद्धविद्यास्वरूपम् अस्य निमज्जति तदा—
अधिष्ठात्र्यो भवन्ति इति शेषः ।

'या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी ।
इच्छात्वं तस्य सा देवि सिसृक्षोः प्रतिपद्यते ॥
सैकापि सत्यनेकत्वं यथा गच्छति तच्छृणु ॥
एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम् ।
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते ॥

यदा तु शुद्धविद्यायाः स्वरूपं तस्य मज्जति ।
तदा तन्मोहनायैव समुत्तिष्ठन्ति शक्तयः ॥ ७१ ॥
कवर्गादिषु तिष्ठन्त्यस्तदधिष्ठातृतां गताः ।
माहेश्वर्यादिकाः प्रोक्तकरन्ध्रचितिमध्यगाः ॥ ७२ ॥
पशून्प्रमातॄनाविश्य तत्तत्प्रत्ययभूमिषु ।
तत्तच्छब्दानुवेधेन मोहनात्पशुमातरः ॥ ७३ ॥

शीलम्, विकल्पहानोन्मिषदविकल्पविमर्शावष्टम्भोपायभूतेन दिव्यमार्गेण साक्षात्कृत्य पुनर्जन्म नैव प्राप्नोति ॥ १८ ॥

यदा योगी शुद्धविद्यातत्त्वे निमग्नो भवति तदा तं विमोहयितुं माहेश्यादिशक्तयः समुत्तिष्ठन्तीति निर्दिशति—'कवर्गादिषु माहेश्वराद्याः पशुप्रमातरः' । कवर्गादिषु स्थिति-

माहेश्यादिभिः पशुजनाधिष्ठातृभूताभिरपि शब्दानुवेधनद्वारेण मोह्यते इत्याशयेन इति विशेषः ।। १९ ।।

शक्तिर्मायाभिधा योनिः कादिक्षान्ताष्टवर्गिणी ।
माहेश्याद्यष्टकं तत्र परापरफलप्रदम् ।।
अधिष्ठाय पशूनां च बाह्यार्थविगमे स्थितम् ।
मिश्रकर्मफलासक्तिजनकं घोरलक्षणम् ।।

एवं-भूतमिदं वस्तु भवत्विति यदा पुनः ।
जाता तदैव तत्तद्वत्कुर्वत्यत्र क्रियोच्यते ।।
एवं सैषा द्विरूपापि पुनर्भेदैरनन्तताम् ।
अर्थोपाधिवशात्प्राप्ता चिन्तामणिरिवेश्वरी ।।
तत्र तावत्समापन्नमातृभावा विभिद्यते ।
द्विधा च नवधा चैव पञ्चाशद्धा च मालिनी ।।
बीजयोन्यात्मकाद्भेदाद् द्विधा बीजं स्वरा मताः ।
कादिभिश्च स्मृता योनिर्नवधा वर्गभेदतः ।।
बीजमत्र शिवः शक्तिर्योनिरित्यभिधीयते ।
वर्गाष्टकविभेदेन माहेश्वर्यादि चाष्टकम् ।।
प्रतिवर्णविभेदेन शतार्धकिरणोज्ज्वला ।
रुद्राणां वाचकत्वेन तत्संख्यानां निवेशिता ।।'

इति–श्रीमालिनीविजयनिरूपितनीत्या पारमेश्वरी परावाक् प्रसरन्ती,

आवृण्वाना निजं रूपं चिदानन्दघनात्मकम् ।
अतिमानं विवृण्वानाः शरीरादौ जडेऽपि च ।। ७४ ।।
पशुवत्साधकमपि प्रमत्तं मोहयन्त्यमूः ।
तस्माद्भाव्यं सदानेन सावधानेन योगिना ।। ७५ ।।

सत्त्वात् कवर्गादिस्थानदेवीत्वं प्राप्ता माहेश्वरीप्रभृतयः कथित करन्ध्रचिति मध्यस्था मातरस्तत्तत् प्रत्ययभूमिसु प्रमातृरूपपशुन् प्रविश्य तत्तच्छब्दानुवेधेन विमोहनत्वात् पशुमातर उच्यन्ते । या चिदानन्दघनात्मकं निजं स्वरूपम् आच्छादयन्त्यः, शरीरादौ जडेऽपि च स्वमाहात्म्यं विस्तारयन्त्य, अमूः पशुवत् प्रमत्तं साधकं वशीकुर्वन्ति । अतः सर्वदा पूर्वोक्तरूपेण सा वहितेन योगिना भाव्यम् । तस्मात् 'ज्ञानाधिष्ठानं मातृका ।' इत्यत्र

विषयासक्तचित्तानामधोऽधः पातकारकम् ।
घोरघोरतरं तत्स्यादघोरं शिवदायकम् ॥
एवं मात्राष्टकं चैतत्प्रतिवर्गं त्रिभेदवत् ।
पूर्ववर्गे भैरवता संस्थितैवानंपायिनी ॥ १९ ॥

तदेवं शब्दराशिश्च त्रिस्वरूपोऽष्टवर्गजः ।
उच्चारस्यादिमध्यान्तभेदा वर्णव्रजेऽपि च ॥

इच्छा-ज्ञान-क्रियारूपतां श्रित्वा, बीजयोनि-वर्ग,वर्ग्यादिरूपा शिव-शक्ति-माहेश्वर्यादिवाचक-ग्रादि-क्षान्तरूपां मातृकात्मतां श्रित्वा, सर्वप्रमातृषु ग्रविकल्पक-सविकल्पक-तत्तत्संवेदनदशासु, ग्रन्तः परामर्शात्मा स्थूलसूक्ष्म-शब्दानुवेधनं विदधाना, वर्ग-वर्ग्यादिदेवताधिष्ठानादिद्वारेण स्मय-हर्ष-भय-राग-द्वेषादिप्रपञ्चं प्रपञ्चयन्ती, ग्रसंकुचितस्वतन्त्रचिद्घनस्वस्वरूप-मावृण्वाना संकुचितपरतन्त्रदेहादिमयत्वमापादयति । तदुक्तं श्रीतिमिरो-द्घाटेपि——

'करन्ध्रचितिमध्यस्था ब्रह्मपाशावलम्बिकाः ।
पीठेश्वर्यो महाघोरा मोहयन्त्यो मुहुर्मुहुः ॥'

इति पूर्वमपि संवादितम् । 'ज्ञानाधिष्ठानं मातृका' (१–४–) इति सामान्येन उक्तम्, इदं तु प्राप्ततत्त्वोऽपि प्रमाद्यन् माहेश्यादिभिः पशु-जनाधिष्ठातृभूताभिरपि शब्दानुवेधद्वारेण मोह्यते इत्याशयेन; इति विशेषः ॥ १९ ॥

उक्तं सामान्यतो ज्ञानाधिष्ठानं मातृकेत्यतः ।
इदं तु प्राप्ततत्त्वोऽपि प्रमाद्यन्साधकः पुनः ॥ ७६ ॥
पश्वधिष्ठानभूताभिर्मोह्यते मातृभिस्त्विति ॥ १९ ॥

यत एवमतः शुद्धविद्या प्राप्तापि युक्तिभिः ॥ ७७ ॥
बह्वीभिः सा पुनर्मौढ्याद्यथास्य न विनश्यति ।
तथा सर्वास्ववस्थासु युक्तो भूयादितीर्यते ॥ ७८ ॥

सामान्येन उक्तं भवति, इदं तु संप्राप्ततत्त्वोऽपि प्रमादं कुर्वन् माहेश्वर्यादिभिः पशुजना-धिष्ठातृभूताभिः मातृभिः शब्दानुवेधनद्वारेण विमोह्यते, अयमेव विशेषद्योतकः ॥ १९ ॥

त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेच्यम् ॥ २० ॥

त्रिषु जागरादिपदेषु, चतुर्थं शुद्धविद्याप्रकाशरूपं तुर्यानन्दरसात्मकं धाम, तैलवत् इति यथा तैलं क्रमेण अधिकमधिकं प्रसरत्

तत्राभेदेन शिवता यथा स्यात्प्राह तत्तथा ।
उक्तेषु मातृभेदेषु त्रिषु वर्णात्मकेषु च ।
योऽवशिष्यत एवात्र चतुर्थः स शिवः परः ॥

यत एवम्, अतः शुद्धविद्यास्वरूपमुक्तयुक्तिभिरासादितमपि यथा न नश्यति, तथा सर्वदशासु योगिना सावधानेन भवितव्यम् इत्याह—

त्रिषु जागरादिषु पदेषु, चतुर्थं शुद्धविद्याप्रकाशरूपं तुर्यानन्दरसात्मकं धाम, तैलवदिति, यथा तैलं क्रमेण अधिकमधिकं प्रसरद् आश्रयं व्याप्नोति तथा आसेच्यम् । त्रिष्वपि पदेषु उन्मेषोपशान्त्यात्मकाद्यन्तकोटयोः परिस्फुरता तुर्यरसेन मध्यदशामपि अवष्टम्भयुक्त्या व्याप्नुयात्, येन तन्मयीभावमाप्नुयात् । 'जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु तुर्याभोगसंभवः' (१–७) इत्यनेन उद्यम-शक्तिचक्रानुसंध्यवष्टम्भभासः स्वरसप्रसरज्जागरादिपदेषु सत्तामात्रं

त्रिष्विति प्रोक्तरूपेषु जागरादिषु तैलवत् ।
चतुर्थमिति पूर्वोक्तं शुद्धविद्याप्रथात्मकम् ॥ ७९ ॥
तुर्यं धाम सदासेच्यं यथा स्यात्तन्मयं त्रयम् ।
यथा तैलं क्रमात्स्वीयमाश्रयं व्याप्नुयात्तथा ॥ ८० ॥
आद्यन्तकोटयः स्फुरता जागरादेः परिस्फुटम् ।
तुर्यानन्दरसेनार्द्रीकुर्यान्मध्यदशामपि ॥ ८१ ॥

अत एव पूर्वोक्तयुक्तिभिः शुद्धविद्यातत्त्वंप्राप्तमपि यथा अस्य न प्रणश्यति, तथा सर्वासु दशासु योगिना सावधानेन भाव्यमित्याह— 'त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेच्यम् ।' त्रिषु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तपदेषु चतुर्थं शुद्धविद्याप्रथारूपं तुर्यचमत्कारात्मकं धाम योगिना सदा आसेच्यम् । यथा तैलं क्रमात् प्रसरत् स्वाश्रयं व्याप्नुयात् तथा जागरादिषु उन्मेषोपशान्त्याद्यन्तकोट्योः परिस्फुरता तुर्यानन्दचिद्रसेन मध्यदशायामपि आर्द्रीकुर्यात्, येन परामृतसंविदर्णवे तादात्म्यतामाप्नुयात् अर्थात् विश्वसृष्ट्याद्यविर्भवनात्मकस्य उन्मेषस्य जाग्रदादिपदानामाद्यन्तकोटिषु उपशान्तितः परिशिष्टस्य तुर्यप्रकाशस्यैव रसः

आश्रयं प्राप्नोति तथा आसेच्यम् । त्रिष्वपि पदेषु उन्मेषोपशान्त्यात्मकाद्यन्तकोट्योः परिस्फुरता तुर्यरसेन मध्यदशामपि अवष्टम्भयुक्त्या व्याप्नुयात् येन तन्मयोभावमाप्नुयात् ।। २० ।।

सोऽनुसंधेय आसेच्यस्त्रिषु तैलवदम्भसि ।
तदनुस्यूतरूपत्वात्स्यातिसिद्धिरनपायिनी ।। २० ।।

तुर्यस्योक्तम् । 'त्रितयभोक्ता वीरेशः' (१-११) इति शाम्भवोपायानुगुणहठपाकयुक्त्या जागरादिसंहारो दर्शितः । अनेन तु सूत्रेण आणवोचितावष्टम्भयुक्त्या दलकल्पं जागरादित्रयं तुर्यरसासिक्तं कार्यम् इत्युक्तम्; इति विशेषः ।। २० ।।

जाग्रदित्यादिसूत्रेण पूर्वमुद्यमवत्तया ।
शक्तिचक्रानुसन्धानशालिनः परयोगिनः ।। ८२ ।।
स्वरसप्रसरज्जाग्रत्स्वप्नसौषुप्तभूमिषु ।
उदीरितः स्वतोनिर्यत्तुर्यप्रसरसंभवः ।। ८३ ।।
त्रितयेत्यादिसूत्रेण शाम्भवोपायसाधितात् ।
हठपाकक्रमाज्जाग्रत्स्वप्नसौषुप्तसंहृतिः ।। ८४ ।।
दर्शितानेन सूत्रेण त्वाणवोपाययुक्तितः ।
दलकल्पतयास्थायि जाग्रदादिपदत्रयम् ।। ८५ ।।
सिञ्चेत्तुर्यरसेनेति विशेषः समुदीरितः ।। २० ।।

आस्वाद्यते । तस्मात् सृष्टिरूपोन्मेषोऽपि तदवधानदृढाभ्यासात् तुर्यरसमयीकार्यः स्यात् । 'जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु तुर्याभोगसंभवः ।' इति पूर्वोक्तसूत्रे विश्वोत्तीर्णानुभवप्राप्तौ उद्यम एवोपायमात्रमस्ति । तथा च 'उद्यमो भैरवः ।' इत्यादिना सूत्रेण प्रतिपादितं भवति । अस्यां स्थितौ योगी उद्यमशक्तिचक्रम् अनुसन्दधानो जागरादिदशासु लौकिकसमस्तव्यवहारान् प्रकुर्वन्नपि चिद्घनचमत्करणानुभवं प्राप्नोति । इयमेव अस्य तुर्यावस्थाऽस्ति ।

एवं च 'त्रितयभोक्ता वीरेशः ।' इत्यत्र शाम्भवोपायानुरूपहठपाकयुक्तितः जागरादीनामवस्थान्तं संतारोऽग्रे प्रकटीभविष्यति ।

अत एव प्रकृतसूत्रे तु आणवोपायक्रमयुक्तितः खड्गकोश इव जाग्रदादिपदत्रयं तुर्यरसानन्देन अभिसिञ्चिदिति विशेषद्योतकः ।। २० ।।

मग्नः स्वचित्तेन प्रविशेत् ॥ २१ ॥

मग्नः शरीरादिप्रमातृतां प्रशमयन् अविकल्पकरूपेण समाविशेत् ॥ २१ ॥

अत्र वर्णानुप्रवेशे क उपायस्ततोऽब्रवत् ।
बाह्यार्थाकारता येयं प्रवृत्तिं भजतो विभोः ।
पूर्ववृत्त्युदयेनालं तत्प्रत्याहृतियोगतः ॥

अत्रोपायमाह—

'प्राणादिस्थूलभावं तु तक्त्वा सूक्ष्ममथान्तरम् ।
सूक्ष्मातीतं तु परमं स्पन्दनं लभ्यते यतः ॥'

इत्युपक्रम्य—

'.......................प्रविशेत्तत्स्वचेतसा ॥'

इति-श्रीमृत्युजिद्भट्टारकनिरूपितनीत्या प्राणायाम-ध्यान-धारणादिस्थूलोपायान् परित्यज्य, स्वचित्तेन, अविकल्पकरूपेण अन्तर्मुखान्तरविमर्शचमत्कारात्मना संवेदनेन, प्रविशेत् समाविशेत् । कीदृक् सन् ? मग्नः, शरीर-

अत्रोपायं पुनश्चाह तुर्यामृतनिषेचने ॥ ८६ ॥
प्राणायामादिकं त्यक्त्वा स्थूलोपायं विकल्पकम् ।
अविकल्पकरूपेण स्वचित्तेन स्वसंविदा ॥ ८७ ॥

सम्प्रति जागरादिदशासु तुर्यामतृरसासेचनोपायं प्रदर्शयतीति—'मग्नः स्वचित्तेन ।' रेचकपूरककुम्भकात्मकप्राणायामादिकं विकल्परूपं स्थूलोपायं परित्यज्य योगनिष्ठपुरुषः स्वचित्तेन अविकल्परूपान्तर्मुखपरामर्शचमत्कारचिदानन्दघनस्वात्मरसेन स्वसंविदा प्रवेशं कुर्यात् ।

'तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः ।'

इति श्रीवसुगुप्तपादनिरूपितनयेन प्रथमं स्वान्तेवासिनः आत्मानं समरसीकृत्य, समनान्तमुत्तीर्णं कृत्वा संविदात्मनि स्थितिं बद्ध्वा, संविद्बोधात्मना अविकल्पज्ञानस्पर्शेनैव उन्मनाशक्त्यनुप्रवेशप्रमुखमनुत्तरपरमशिवस्वरूपे नियोजयेत् ।

स्वात्मन्येव निमग्नः स्यात्प्रवृत्त्युपरमे सति ।
एवं निमेषवशतः शिवो भूत्वा स्वचेतसा ॥
अङ्गारकल्पवर्णानां वह्निवच्चान्तरं विशेत् ।
पुनर्भैरववृत्त्यैव मन्त्रानुप्राणनं परम् ॥
न केवलं यावदयं विधिः परपुरादिषु ।
इत्थं सति च मन्त्राणां शिवभैरवता स्फुटम् ॥
स्फुरत्येवान्यथा कस्माद्वर्णात्मा मन्त्र ईश्वरः ॥ २१ ॥

प्राणादिप्रमातृतां तत्रैव चिच्चमत्काररसे मज्जनेन प्रशमयन् । तदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

'व्यापारं मानसं त्यक्त्वा बोधरूपेण योजयेत् ।
तदा शिवत्वमभ्येति पशुर्मुक्तो भवार्णवात् ॥'

इति । श्रीविज्ञानभट्टारकेऽपि—

'मानसं चेतना शक्तिरात्मा चेति चतुष्टयम् ।
यदा प्रिये परिक्षीणं तदा तद्भैरवं वपुः ॥'

इति । एतदेव ज्ञानगर्भे स्तोत्रे—

'विहाय सकलाः क्रिया जननि मानसीः सर्वतो
विमुक्तकरणक्रियानुसृतिपारतन्त्र्योज्ज्वलम् ।
स्थितैस्त्वदनुभावतः सपदि वेद्यते सा परा
दशा नृभिरतन्द्रितासमसुखामृतस्यन्दिनी ॥'

इत्यनेन महागुरुभिर्निबद्धम् ॥ २१ ॥

अन्तर्मुखपरामर्शचमत्काररसात्मना ।
मग्नस्तुर्यरसेनात्र स्वदेहादिप्रमातृताम् ॥ ८८ ॥
मज्जनेन प्रशमयन् प्रविशेत्तत्समाविशेत् ॥ २१ ॥

मग्नस्तु स्वदेहप्राणादिप्रमातृभावं प्रशमयन् चिदानन्दरसार्णवे अविकल्पभावनया समाविशत् । तथा च—

'व्यापारं मानसं त्यक्त्वा बोधरूपेण योजयेत् ।
तदा शिवत्वमभ्येति पशुर्मुक्तो भवार्णवात् ॥'

इत्यादिना स्वच्छन्दतन्त्रे प्रतिपादितं भवति ॥ २१ ॥

प्राणसमाचारे समदर्शनम् ॥ २२ ॥

प्राणस्य बहिः मन्दमन्दप्रसरणे चिदानन्दघनात्मतया एकरूपं संवेदनम् अर्थात् सर्वासु दशासु भवति इत्यर्थः ॥ २२ ॥

तदेवं वर्णमात्रस्य पूर्वापरनिरासतः ।
स्थितत्वात्किं भवत्याह तदर्थं सूत्रमीश्वरः ॥
वर्णस्योच्चार्यमाणस्य पूर्वमध्यान्तलक्षणम् ।
भागत्रयं यत्तत्रादिपर्यन्ते शिवरूपता ॥

इत्थं च परमपदप्रविष्टस्य अस्य वस्तुस्वाभाव्यात् यदा पुनः प्रसरणं भवति तदा--

परस्फुरत्तात्मकशाक्तपरिमलसंस्कृतस्य प्राणस्य, सम्यक् इति विकसितसमग्रग्रन्थ्यात्मकान्तरावष्टम्भबलात्, आ ईषत् बहिर्मन्दमन्दं चारे प्रसरणे, समं चिदानन्दघनात्मतया एकरूपं, दर्शनं संवेदनम्, अर्थात् सर्वदशासु अस्य भवति इत्यर्थः । उक्तं च श्रीमदानन्दभैरवे--

'उत्सृज्य लौकिकाचारमद्वैतं मुक्तिदं श्रयेत् ।
स समं सर्वदेवानां तथा वर्णाश्रमादिके ॥
द्रव्याणां समतादर्शी स मुक्तः सर्वबन्धनैः ।'

इत्थं परपदाविष्टबुद्धेर्वस्तुस्वभावतः ॥ ८९ ॥
यदा भूयः प्रसरणं योगिनो जायते, तदा ।
प्राणस्य प्रस्फुरच्छाक्तसौरभावेशसंस्कृतेः ॥ ९० ॥
सम्यग्विकसिताशेषग्रन्थ्यवष्टम्भधीबलात् ।
ईषद्बहिर्मन्दमन्दं चारे प्रसरणे सति ॥ ९१ ॥
समं चिन्मुद्घनात्मत्वात्सर्वदाभेददर्शनम् ।
संवेदनं भवत्यर्थात्सर्वावस्थासु योगिनः ॥ ९२ ॥

अनेन प्रकारेण शाम्भवपदसमाविष्टस्यास्य योगिनो वस्तुस्वभावतो यदा भूयं प्रसरणं जायते, तदा—'प्राणसमाचारे समदर्शनम् ।' यदा योगिनः प्राणो चिदानन्दरूपतुर्यात्मकसंविद्रसेन परमेश्वरस्फुरत्तात्मकशाक्तसौरभेन संयुक्तो भवति । तदा स सम्यग्विकसितसमस्तग्रन्थ्यात्मकान्तरस्वरूपस्य अवरोधवशाद् बहिर्देशे मन्दमन्दं प्रसरणे सति

मध्येऽवरप्रसवः ॥ २३ ॥

पूर्वापरकोटयोः तुर्यरसमास्वादयतो मध्ये मध्यदशायाम्,

संस्थितैवोद्बुभूषाख्यविश्रमाख्यस्वरूपतः ।
मध्ये च प्रसवो भ्रंशः स्यात्पशोर्वर्णमात्रके ॥
पत्युः शाक्तं स्फुरद्रूपमेतदेवोपदिश्यते ॥ २२ ॥

इत्थं सति त्रिस्वरूपे यथा साम्यं भवत्यलम् ॥
तथा प्रदर्शयन्नाह पार्वतीदयितः पुनः ।
सर्वज्ञानक्रियारूपं यत्स्वसामर्थ्यमुत्तमम् ।
स प्राणः परनादाख्यः सर्वानुप्राणनक्षमः ॥

इति । अत एव श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्--

'बुद्धिप्राणप्रसरेऽपि बाह्यदेशाद्युपादानानाहितसंकोचानां विश्वात्मस्वरूपलाभ एव ॥'

इत्युक्तम् ॥ २२ ॥

यदा तु अन्तर्मुखतुर्यावधानावष्टम्भप्रकर्षलभ्यं तुर्यातीतपदम् एवमयं न समाविशति, अपि तु पूर्वापरकोटिसंवेद्यतुर्यचमत्कारमात्रे एव संतुष्यन्नास्ते, तदा अस्य--

तुर्यावष्टम्भतो लभ्यं तुर्यातीतमनामृशन् ।
पूर्वापरात्मनोः कोटयोः संवेद्ये तुर्यमात्रके ॥ ६३ ॥

स्वात्मनन्दोऽनुभूयते । इत्थं योगनिष्ठपुरुषः समस्तलौलिकव्यवहारान् प्रकुर्वन्नपि चिदानन्दस्वरूप एव अवस्थितो संजायते । तथा च निखिलेषु चराचरपदार्थेषु सर्वदा अभेदात्मकदर्शनं करोति । तथोक्तं गीताशास्त्रे श्रीकृष्णेन—

'समं सर्वेषु भूतेषु निष्ठन्तं परमेश्वरम् ॥' १३-२६ ॥

अस्य योगिनः सर्वासु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तदशासु चिदानन्दघनरूपेण एकात्मभावेन दर्शनं संवेदनं भवति ॥ २२ ॥

यदा योगी आन्तरिकतुर्यावलम्बनतो परमशान्तिलभ्ये तुर्यातीतपदे नैव समाहितो भवति, प्रत्युत पूर्वापरकोटिसंवेद्यतुर्यचमत्कारमात्र एव सन्तुष्टो जायते, तदा अस्य—

अवरः अश्रेष्ठः भेदप्रथात्मा कुत्सितः सर्गो जायते, न तु सदा व्यामुह्यति ।। २३ ।।

तत्समाचार आवेशो वर्णशब्दाणुषु स्फुरन् ।
तेनाभेदश्चानुभवः समदर्शनमुच्यते ।।
एवं तद्बलमाक्रम्य सर्वज्ञानबलान्विताः ।
वर्णमन्त्रादिकाः सर्वे भवन्तीति किमद्भुतम् ।। २३ ।।

पूर्वापरकोटयोस्तुर्यरसमास्वादयतो, मध्ये मध्यदशायाम्, अवरः अश्रेष्ठः, प्रसवो व्युत्थानात्मा कुत्सितः सर्गो जायते। न तु 'विद्यासंहारे तदुत्थस्वप्नदर्शनम्' (२-१०) इत्युक्तसूत्रार्थनीत्या सदा व्यामुह्यति इत्यर्थः। उक्तं श्रीमालिनीविजये--

'वासनामात्रलाभेऽपि योऽप्रमत्तो न जायते।
तमनित्येषु भोगेषु योजयन्ति विनायकाः ।।
तस्मान्न तेषु संसक्तिं कुर्वीतोत्तमवाञ्छया।'

इति प्रागपि (७१ पृ०) संवादितम् ।। २३ ।।

आस्ते योगी, तदामुष्य तावन्मात्रेण तुष्यतः ।
पूर्वस्यामपरस्यां च कोटौ तुर्यनिषेविणः ।। ६४ ।।
अवधानेऽवलिप्तस्य कदाचित्तस्य योगिनः ।
मध्यायामवरोऽश्रेष्ठः कुत्सितः सर्ग आपतेत् ।। ६५ ।।

'मध्येऽवरप्रसवः।' पूर्वस्याम् अपरस्यां कोटौ तुर्यचमत्कारप्राप्तवतो योगिनो मध्यदशायामेव अवरः—अश्रेष्ठो व्युत्थानात्मा कुत्सितः सर्ग आपतेत्। अस्य अवरप्रसवो भेदप्रथात्मा मध्यदशायामेव जायते न तु सर्वत्र। यदा तु परमतत्त्वज्ञानात्मिकायाः विद्यायाः समुत्थानं न भवति, तदा द्वैतभावनाभावितस्य प्रपञ्चस्य दर्शनं भवति। तस्मात् योगी संविद्रूप-विद्यातत्त्वे निरन्तरमवहितो संजायते। अनेन प्रकारेण स सदा न व्यामुह्यति—

तथा चोक्तं श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रे—

'वासनामात्रलाभेऽपि योऽप्रमत्तो न जायते।
तमनित्येषु भोगेषु योजयन्ति विनायकाः ।।
तस्मान्न तेषु संसक्तिं कुर्वीतोत्तमवाञ्छया।'

मात्रासु स्वप्रत्ययसंधाने नष्टस्य पुनरुत्थानम् ॥ २४ ॥

मात्रासु पदार्थेषु, यदा विश्वम् इदमहम् इति चिद्घनात्मरूपतां

वर्णानुप्राणनं शंभुर्निरूप्याह प्रसङ्गतः ।
यथा भावशरीरादेः स्यादनुप्राणनं तथा ॥
मायाद्यवनिपर्यन्ततत्त्वग्रामकलास्तु याः ।
ता मात्रा व्यक्तयो याश्च प्रतितत्त्वं स्वगोचरे ॥

एवमेव प्रसवेऽपि प्रवृत्ते यदि तुर्यरसावष्टम्भेन मध्यपदं सिञ्चति पुनरपि, तदा—

मात्रासु पदार्थेषु स्वप्रत्ययसंधानम् ।
'चक्षुषा यच्च संधानं वाचा वा यश्च गोचरः ।
मनश्चिन्तयते यानि बुद्धिश्चैवाध्यवस्यति ॥
अहंकृतानि यान्येव यच्च वेद्यतया स्थितम् ।
यश्च नास्ति स तत्रैव त्वन्वेष्टव्यः प्रयत्नतः ॥'

व्युत्थानात्मा, ततो योगी सावधानः सदा भवेत् ।

अवरप्रसवे वृत्ते ह्येवं मध्यपदे पुनः ॥ ६६ ॥
तुर्यावष्टम्भरसतस्तुर्यातीतं परामृशेत् ।
मात्राः पदार्थाः रूपाद्यास्तास्वेभिश्चक्षुरादिभिः ॥ ६७ ॥

अर्थात् सच्चिदानन्दघनचमत्काररसामृतास्वादने समाधानसंस्कारस्योपलब्धौ प्रमाद्यतो माहेश्यादिभिः, विघ्नद्भिः सिद्धैश्च क्षणभङ्गुरभोग्यपदार्थेषु प्रलोभनवशात्; तुर्यातीतपदे समारूढाय योगिना तेषु कस्यामपि अवस्थायां प्रीतिः नैव कर्तव्या ।' अतः स्वस्वरूपविविक्तये निरन्तरं प्रयत्नं कर्तव्यम् ।

'अतः सततमुद्युक्तः स्पन्दतत्त्वविविक्तये ।'

इत्यादिना स्पन्दे निरूपितम् ॥ २३ ॥

यदा योनिजनस्तुर्यातीतचिद्रसावष्टम्भेन अवरप्रसरे जातेऽपि मध्यपदं लभते, तदा—'मात्रास्वप्रत्ययसन्धाने नष्टस्य पुनरुत्थानम् ।' मात्राः—रूपादयो विषयाः तेषु

सर्वत्र अनुसंधत्ते, तदा पूर्वोक्तावरप्रसवात् नष्टस्य तुर्यचमत्कारमय-स्वभावस्य पुनरुन्मज्जनं योगिनो भवति इत्यर्थः ।। २४ ।।

तासु स्वप्रत्ययं ज्ञानं प्रतिस्वं तेन पूरणम् ।।
अनुसंधानमेतत्तत्कर्तुस्तद्भूम्युपाश्रयम् ।।
सति तस्मिन्विनष्टस्य भावादेरुदयः पुनः ।
एवं कर्तृधरावेशबलतो यत्र यत्र च ।।

इति–श्रीस्वच्छन्दनिरूपितनीत्या 'विश्वमिदम् अहम्, इति चिद्घनात्मरूपतां सर्वत्र अनुसंदधतः, पूर्वोक्तावरप्रसवात् नष्टस्य, अपरिहारित-तुर्यैकघनचमत्कारमयस्वभावस्य, पुनरुत्थानम् उन्मज्जनं तदैक्यसंपत्संपूर्णत्वं योगिनो भवति इत्यर्थः । तदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

'प्रसह्य चञ्चलीत्येव योगिनामपि यन्मनः ।'

अक्षैः स्वप्रत्ययो नाम तत्तत्स्वग्राह्यवेदनम् ।
संधानं तु समस्तं तदहमित्यनुसंहितिः ।। ९८ ।।
अमुष्मिन्सति नष्टस्य हारितस्योक्तवर्गतः ।
तुर्यस्य पुनरुत्थानं भूय उन्मज्जनं भवेत् ।। ९९ ।।
तदैक्यसंपत्पूर्णत्वं योगीन्द्रस्येति शिष्यते ।। २४ ।।

एवमुद्यतसमावेशप्रकर्षः साधकर्षभः ।। १०० ।।

महायोगनिष्ठपुरुषः समस्तविश्वमिदमहमिति प्रत्ययानुसन्धानं पौनःपुन्येन आवेशसद्भावात् अवहितत्वेन विमर्शनं करोति । तस्मिन् काले पूर्वसूत्रोक्तभेदप्रथात्मकसर्गात् विनष्टस्य लुप्तस्य चिदानन्दतुर्यचमत्काररसमयस्वभावस्य भूयोऽपि ऐक्यसंपत्परिपूर्णत्वरूपोन्मज्जनमाविर्भावः संजायते । यथोक्तं स्वच्छन्दतन्त्रे—

'यस्य ज्ञेयमयो भावः स्थिरः पूर्णः समन्ततः ।
मनो न चलते तस्य सर्वावस्थागतस्य तु ।।
यत्र यत्र मनो याति ज्ञेयं तत्रैव चिन्तयेत् ।
चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः ।।'

एवंविधस्य महायोगनिष्ठपुरुषस्य मन एव परतत्त्वैकभावनया भावितं तुर्यातीत-पदं ज्ञेयं सर्वासु जागरादिदशासु परामर्शनं करोत्येव । तथा च शिवदृष्टौ सोमानन्दपादाः—

शिवतुल्यो जायते ॥ २५ ॥

तुर्यपरिशीलनप्रकर्षात् प्राप्ततुर्यातीपदः, स्वच्छस्वच्छन्दचिदा-

मात्राप्रत्ययसंधानं कुर्यात्तत्कर्तृता भवेत् ।
सर्वज्ञसर्वकर्तृत्वबलावेशदृढस्थितिः ॥ २४ ॥

य एवं नित्ययुक्तः स भवेत्कीदृक्तदाह च ।

इत्युपक्रम्य--

'यस्य ज्ञेयमयो भावः स्थिरः पूर्णः समन्ततः ।
मनो न चलितं तस्य सर्वावस्थागतस्य तु ॥
यत्र तत्र मनो याति ज्ञेयं तत्रैव चिन्तयेत् ।
चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः ॥'

इति ।

'विषयेषु च सर्वेषु इन्द्रियार्थेषु च स्थितम् ।
यत्र तत्र निरूप्येत नाशिवं विद्यते क्वचित् ॥'

इति च ॥ २४ ॥

इत्थमासादितप्रकर्षो योगी--

तुर्यपरिशीलनप्रकर्षात् प्राप्ततुर्यातीतपदः परिपूर्णस्वच्छस्वच्छन्द-चिदानन्दघनेन शिवेन भगवता तुल्यो, देहकलाया अविगलनात् तत्समो

तुर्याभ्यासप्रकर्षेण तुर्यातीतात्मकं पदम् ।
संप्राप्तः साधकः साक्षात्सर्वलोकान्तरात्मना ॥ १०१ ॥

'शिवभावनयौषध्या बद्धे मनसि संसृतेः ।
काष्टकुडयादिषु क्षिप्ते रसवच्छिवहेमता ॥'

इति—

'विषयेषु च सर्वेषु इन्द्रियार्थेषु च स्थितम् ।
यत्र यत्र निरूप्येत नाशिवं विद्यते क्वचित् ॥'

इति स्वच्छन्दशास्त्रमनुसृत्य सर्वेषु भोग्यवस्तुषु स्थितोऽपि यो योगिजनो विचार्येत यत्र कुत्रापि नास्य कृते अशिवमस्ति, प्रत्युत संवित्प्रकाशघनशिवैकात्म्येन पश्यति ॥ २४ ॥

इत्थं चिद्रूपस्वात्मविमर्शावेशप्रकर्षतो योगी परमशिवेनाभिन्नरूपतां प्राप्नोतीति निर्दिशति—'शिवतुल्यो जायते ।' चिदानन्दरूपतुर्यैकघनचमत्कारस्वभावस्य पौनः पुन्येन

नन्दघनेन शिवेन भगवता तुल्यः देहकलाया अगलनात् समो जायते, तद्विगलनेन असौ साक्षात् शिव एव इत्यर्थः ॥ २५ ॥

सर्वस्मिन्कारणकुले शिवः शिरसि वर्तनात् ।
सदा निरुपधिज्योतीरूपत्वाच्चित्स्वरूपतः ॥
तत्तुल्यो नित्ययुक्तत्वात्कुर्वन्नपि विचेष्टितम् ।
जीवन्मुक्तः साधकः स्यात्पूर्वोक्तज्ञानवीर्यतः ॥ २५ ॥

जायते । तद्विगलनेन साक्षाच्छिव एव असौ इत्यर्थः । तथा च श्रीकालिकाक्रमे--

'तस्मान्नित्यमसंदिग्धं बुद्ध्वा योगं गुरोर्मुखात् ।
अविकल्पेन भावेन भावयेत्तन्मयत्वतः ॥
यावत्तत्समतां याति भगवान्भैरवोऽब्रवीत् ।'

इति ॥ २५ ॥

शिवेन चिन्मयस्वच्छस्वच्छदानन्दशालिना ।
तुल्योऽविगलनाद्देहकलाया गलने शिवः ॥ १०२ ॥

'अर्जितं दीक्षया दग्धं भविष्यन्ति यमादिभिः ।
येनेदं साधितं यत्र तद्भुक्त्या विनिवर्तते ॥' १०३ ॥

योगाभ्यासबलादेव तुर्यातीतपदे योगी प्रतिष्ठितो भवति । स च साक्षात्सर्वलोकान्तरात्मना चिन्मयस्वच्छस्वच्छन्दसच्चिदानन्दशालिना भगवता परमशिवेन तुल्यो संजायते । स तु केवलं कायकला-विगलनपर्यन्तं शिवसदृशो तिष्ठति अर्थात् तेन मुखेन्दुवत् ईषत् न्यूनतया समानधर्तता धार्यते, अनन्तरं कायकलायाः विगलने सति साक्षात्परमशिव एवासौ भवति ।

'तस्मान्नित्यमसंदिग्धं बुध्वा योगं गुरोर्मुखात् ।
अविकल्पेन भावेन भावयेत्तन्मयत्वत: ॥
यावत्तत्समतां याति भगवान् भैरवोऽब्रवीत् ।'

इत्यादिना कालिकाक्रमे प्रतिपादितं भवति ॥ २५ ॥

शरीरवृत्तिर्व्रतम् ॥ २६ ॥

प्रोक्तदृशा शिवतुल्यस्य योगिनः शिवाहंभावेन वर्तमानस्य, शरीरे वृत्तिर्वर्तनं यत् तदेव व्रतं नियमेन अनुष्ठेयम् अस्य, न पुनस्तस्य देहस्थितिव्यतिरिक्तं व्रतमुपयुक्तम् ।। २६ ।।

एवमभ्यस्यतश्चास्य कीदृशी नित्ययुक्तता ।
तदर्थं भगवान्सूत्रमाह व्रतनिरूपकम् ॥
शरीरमेव कङ्कालं कपालं कङ्करस्थितम् ।
पृष्ठदण्डं दण्डमत्र करपादगलस्थिताः ॥

एवमपि च 'येनेदं तद्धि भोगतः' इत्याद्युक्तरीत्या उपनतभोगातिवाहनमात्रप्रयोजनात् देहस्थितिः अस्य न अतिक्रमणीया इत्याह––

प्रोक्तदृशा शिवतुल्यस्य योगिनः शिवाहंभावेन वर्तमानस्य, शरीरे वृत्तिर्वर्तनं यत्, तदेव व्रतम्; स्वस्वरूपविमर्शात्मकनित्योदितपरपूजातत्परस्य नियमेन अनुष्ठेयम् अस्य । तथा च श्रीस्वच्छन्दे––

'अनेकभाविकं कर्म दग्धं बीजमिवाग्निना ।
भविष्यदपि संरुद्धं येनेदं तद्धि भोगतः ॥' १०४ ।
इत्युक्तनीत्या प्रारब्धप्राप्तभोगोपभोगभूः ।
कलेवरस्थितिस्तस्य कर्तव्येत्युपदिश्यते ॥ १०५ ॥
एवं पूर्वोक्तया नीत्या शिवतुल्यस्य योगिनः ।
शश्वच्छिवात्मकस्वात्मसपर्यातत्परात्मनः ॥ १०६ ॥

एवं च पूर्वजन्मोपात्तप्रारब्धात्मकशुभाशुभकर्मणां भोगादेव क्षयो भवति, तत्परिसमाप्तिपर्यन्तमेव अस्य योगिनो देहावस्थानमिति दर्शयति––'शरीरवृत्तिर्व्रतम् ।' साक्षादहमेव शिवोऽस्मीति भावनया विद्यमानस्य शिवसाक्षात्कारवतः सुप्रबुद्धयोगनिष्ठपुरुषस्य पञ्चभूतात्मके वर्ष्मणि वृत्तिर्वर्तनं यत्तदेव व्रतमस्ति; यतो हि शश्वत्संवित्प्रकाशशिवात्मकस्वस्वरूपसपर्यातत्परशीलस्य योगिनो नियमेन अनुष्ठातव्यं, नान्यदुपयुक्तं भवति । यदाहुराचार्योत्पलपादाः शिवस्तोत्रावल्याम्––

अन्तरुल्लसदच्छाच्छभक्तिपीयूषपोषितम् ।
भवत्पूजोपयोगाय शरीरमिदमस्तु मे ॥ १७-१६ ॥

अस्थिखण्डाः पञ्च मुद्रा भस्म दीप्तिः परा स्मृता ।
गुणत्रयं चोपवीतं ध्वजिका स्यान्महापथम् ॥
भूषणानीन्द्रियाण्यत्र विहृतिर्विषयेष्वलम् ।
हृच्छ्मशाने सदासक्तिः कायवाक्चेतसा स्फुरन् ॥
यो यश्चेष्टापरिस्पन्दो वीरेशस्योत्सवः सदा ।
महाव्रतमिदं ज्ञेयं निरर्गलनिजस्थितेः ॥

'सुप्रदीप्ते यथा वह्नौ शिखा दृश्येत चाम्बरे ।
देहप्राणस्थितोऽप्यात्मा तद्वल्लीयेत तत्पदे ॥'

इत्युक्त्या देहप्राणाद्यवस्थितस्यैव शिवसमाविष्टत्वमुक्तम् । न पुनस्तस्य देहस्थितिव्यतिरिक्तं व्रतमुपयुक्तम् । यदुक्तं श्रोत्रिकसारे--

'देहोत्थिताभिर्मुद्राभिर्यः सदा मुद्रितो बुधः ।
स तु मुद्राधरः प्रोक्तः शेषा वै अस्थिधारकाः ॥'

'अन्तरुल्लसदच्छाच्छभक्तिपीयूषपोषितम् ।
भवत्पूजोपयोगाय शरीरमिदमस्तु मे ॥' १०७ ॥

यद्यथा स्थितपदार्थदर्शनं युष्मदर्चनमहोत्सवस्व यः ।
युग्ममेतदितरेतराश्रयं भक्तिशालिषु सदा विजृम्भते ॥ १३-७ ॥

अत एव स्वच्छन्दतन्त्रे विवेचितम्—

'सुप्रदीप्ते यथा वह्नौ शिखा दृश्येत चाम्बरे ।
देहप्राणस्थितोऽप्यात्मा तद्वल्लीयेत तत्पदे ॥ ४-३९८ ॥

यथा अरणिगतवह्निः सुप्रदीप्तः सन् ज्वालारूपेण आकाशे प्रलीयते । तथैव दिव्यकरणमन्त्रारणिसमुत्तेजनेन देहे यः प्राणस्तस्मिन् प्रज्वालिते मध्वोर्ध्ववाह्यदानाग्नितामायाति, देहेऽवस्थितो य आत्मा ज्ञानप्रकाशरूपो वह्निज्वालातुल्यः समनान्तं समस्तं देहारणिं दाह्यं तस्मिन् परमधाम्नि विलीनो भवति

अस्ति अस्य सुप्रबुद्धयोगिनः प्रारब्धकर्मक्षयपर्यन्तमेव देहावस्थितिः । देहप्राणादिषु तिष्ठन्नपि परमशिवस्वरूपेऽवस्थानं भवत्येव । तस्मात् देहावस्थितिर्व्यतिरिक्तं न तस्य व्रतमुपयुक्तं भवति । स तु स्वभावतो चिद्रूपैकस्वरूपोऽपि उपाधिसंयोगेन तद्गुणयुक्तः सन् तद्धर्मान् प्रकाशयति । अत एवोक्तं शङ्कराचार्यपादाः विवेकचूडामणौ—

कथा जपः ॥ २७ ॥

'अहमेव परो हंसः शिवः परमकारणम् ।'

इत्थं व्रतधरस्यास्य जपः कीदृक्तदाह च ।
यद्यत्कर्तृधरारूढः प्रबुद्धः सन्प्रभाषते ।
तत्तज्जपः स्याद्व्रतिनः स जपात्पुरुषोत्तमः ॥

इति । श्रीकुलपञ्चाशिकायामपि--
'अव्यक्तलिङ्गिनं दृष्ट्वा संभाषन्ते मरीचयः ।
लिङ्गिनं नोपसर्पन्ति अतिगुप्ततरा यतः ॥'
इति ॥ २६ ॥

एवं-विधस्य अस्य--
'अहमेव परो हंसः शिवः परमकारणम् ।'
इति-श्रीस्वच्छन्दनिरूपितनीत्या नित्यमेव पराहंभावनामयत्वात् ।

इति लोकोत्तरश्रीमदुत्पलप्रोक्तता दिशा ।
शिवभक्तिसुधापूर्णे शरीरे वृत्तिरस्य या ॥ १०८ ॥
व्रतमेतदनुष्ठेयं न तुच्छं तस्य धारणम् ॥ २६ ॥

एवंविधस्य तस्यास्य या या स्वालापरूपिणी ॥ १०९ ॥

'उपाधिसम्बन्धवशात्परात्मा ह्युपाधिधर्माननुभाति तद्गुणः ।
अयोविकारानविकारि वह्निवत्सदैकरूपोऽपि परः स्वभावात् ॥ १९३ ॥

यतः स स्वतन्त्रयोगी 'अन्तर्लक्ष्यबहिर्दृष्टिः' इत्याद्युक्तरीत्या भैरवीमुद्रामुद्रणेनैव मुद्राधरो भवति, न तु शरीरावयवसन्निवेशविशेषेण मुद्राधरः ।

देहोत्थिताभिमुद्राभिर्यः सदा मुद्रितो बुधः ।
स तु मुद्राधरः प्रोक्तः शेषा वै अस्थिधारकाः ॥

इत्यादिना श्रीत्रिकसारे प्रतिपादितम् ।

शाम्भवीयमुद्रामुद्रितस्य सर्वाः शक्तयः उपरिगता प्रकटीकृताः भवन्ति, स्थूलमुद्रातरुपरिगमनम् असम्भवमेव ॥ २६ ॥

ईदृशस्य योगिनः स्वालादिकं जपकार्यं भवतीति निर्दिशति—'कथा जपः ।' परिपूर्णाहन्ताभावनया भावितस्य योगिनो यत्किञ्चन स्वालापादिलौकिकव्यवहृत्यनुसारि

इति नीत्या नित्यमेव पराहंभावनामयत्वात् महामन्त्रात्मकाकृतकाहं-विमर्शारूढस्य यत् यत् आलापादि, तत् तत् अस्य स्वात्मदेवता-विमर्शानवरतावर्तनात्मा जपो जायते ॥ २७ ॥

वीर्यावलम्बनोच्चारसंचाराख्या कथा जपः ।
एवं चतुर्धा विज्ञेयः शाक्तो हंसश्च पौद्गलः ॥
[निष्कलोऽप्यथ]शाक्तोऽत्र येयं स्वा[हं]क्रिया चितेः ।
निष्कलः प्रणवाङ्गस्थो हंसो नादकलात्मकः ॥

'तस्य देवातिदेवस्य परबोधस्वरूपिणः ।
विमर्शः परमा शक्तिः सर्वज्ञा ज्ञानशालिनी ॥'

इति-श्रीकालिकाक्रमनिरूपितनीत्या महामन्त्रात्मकाकृतकाहंविमर्शारूढस्य यद्यदालापादि तत्तदस्य स्वात्मदेवताविमर्शानवरतावर्तनात्मा जपो जायते । यदुक्तं श्रीविज्ञानभैरवे--

'महामन्त्रमयं नौमि रूपं ते स्वच्छशीतलम् ।
अपूर्वामोदसुभगं परामृतरसोल्वणम्' ॥ ११० ॥
इति श्रीप्रत्यभिज्ञाकृद्दैशिकप्रोक्तया दिशा ।
अकृत्रिमाहमामर्शमयस्वात्मावमर्शिनः ॥ १११ ॥

तदेवास्य जपो भवति । तथा चोक्तं स्वच्छन्दतन्त्रे—

'अहमेव परो हंसः शिवः परमकारणम् ॥' ४-३९९ ॥

अतएव स्वस्वभावे, परमशिवे पौनःपुन्येन या भावना विमर्शना, भाव्यते स एव जपः । स्वयं नादो मन्त्रात्मा अकृतकाहं विमर्शात्मा, जप्यो जपनीयः स्वात्मदेवः । यदुक्तं—

'नास्योच्चारिता कश्चित्प्रतिहन्ता न विद्यते ।
स्वयमुच्चरते देवि ! प्राणिनामुरसि स्थितः ॥'

तथा च योगिनीहृदयनीपिकायाम्—

'संयम्येन्द्रियसंचारं प्रोच्चरन्नादमान्तरम् ॥
एष एव जपः प्रोक्तो न तु बाह्यजपो जपः ॥'

करणवर्गस्य बाह्यप्रवृतिनिरोधी कृत्य, आन्तरानाहतनादभावना एव जपः कथ्यते । न तु विकल्परूपविविधवर्णानां संघटनरूपमन्त्राणां बाह्योच्चारणं वस्तुतो जपो भवति ।

जीवसंज्ञो मरुद्रूपः स्वप्रवृत्त्यायुतद्वयम् ।
सहस्रं षट्शतान्येव वहत्यच्छिन्नसंततिः ॥ २७ ॥

य एवं ज्ञानवान्सिद्धो जपव्रतपरायणः ।
केन दानेन तेनेह भाव्यं तत्राह शंकरः ॥

'भूयो भूयः परे भावे भावना भाव्यते हि या ।
जपः सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः ॥'

इति । तथा—

'सकारेण बहिर्याति हकारेण विशेत्पुनः ।
हंस-हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपपि नित्यशः ॥
षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः ।
जपो देव्या विनिर्दिष्टः सुलभो दुर्लभो जडैः ॥'

इति ॥ २७ ॥

या या स्वैराभिलापात्मा कथा याथार्थ्यवादिनः ।
'भूयोभूयः परे भावे भावना भाव्यते हि या ॥ ११२ ॥
जपः सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः ।'
'षट्शतानि दिवारात्रं सहस्राण्येकविंशतिः ॥ ११३ ॥
जपो देव्याः समुद्दिष्टः सुलभो दुर्लभो जडैः ।'
इत्युक्तनीत्या सा सर्वस्वात्मेशामर्शसंपदः ॥ ११४ ॥
जनिपालनधर्मत्वाज्जप इत्यभिधीयते ।
अथेदृग्विधयोगीन्द्रविषयापि च या कथा ॥ ११५ ॥
जपः सोऽपि जनस्योक्तो जनिपालनयोगतः ॥ २७ ॥

अथचास्योच्यते चर्या मर्यादानुविधायिनी ॥ ११६ ॥

'तत्स्वरूपं जपः प्रोक्तो भावाभावपदच्युतः ॥ १-९० ॥
इत्यादिना श्रीतन्त्रालोके निरूपितं भवति ।

एवं च पातञ्जलयोगे—
तज्जपस्तदर्थभावना ॥ २७ ॥

दानमात्मज्ञानम् ॥ २८ ॥

दीयते इति दानम्, आत्मज्ञानम् अनेन अन्तेवासिभ्यो दीयते ॥ २८ ॥

आत्मस्वरूपप्रज्ञप्तिर्ज्ञानं तत्परमुत्तमम् ।
उक्तं च वक्ष्यमाणं च तस्य सम्यक् प्रकाशनम् ॥
शक्तिपातप्रबुद्धानां यत्तद्दानमिहोत्तमम् ।
तद्दानात्क्षपणं सम्यक्पाशानां स्यात्पशोस्ततः ॥

ईदृग्जपव्रतवतोऽस्य चर्यामाह—

प्रोक्तचैतन्यरूपस्य आत्मनो यत् ज्ञानं, साक्षात्कारः, तत् अस्य दानम्; दीयते परिपूर्णं स्वरूपम्, दीयते खण्डयते विश्वभेदः, दायते शोध्यते मायास्वरूपम्, दीयते रक्ष्यते लाभः शिवात्मा स्वभावश्च अनेन इति कृत्वा ।

अथ च दीयते इति दानम्, आत्मज्ञानमेव अनेन अन्तेवासिभ्यो दीयते । तदुक्तम्—

प्रोक्तचैतन्यरूपस्य साक्षात्करणमात्मनः ।
मत्तज्ज्ञानं तदेवास्य दानं यत्तेन दीयते ॥ ११७ ॥
परिपूर्णं स्वरूपं स्वं, दीयते खंडयते भिदा ।
दायते शोध्यते रूपमात्मीयं, दीयते पुनः ॥ ११८ ॥

एवंविधस्य जपव्रतकारिणो योगिनः स्वरूपसाक्षात्कारोपस्थितिमाह—'दानमात्मज्ञानम् ।' पूर्वोक्तचैतन्यरूपस्य साक्षात्करणमात्मनो यज्ज्ञानमस्ति तदेवास्य दानं वर्तते । दीयते परिपूर्णं पराहन्तात्मकस्वरूपम् अथवा दीयते निराक्रियते विश्वरूपो पृथिव्यादिशिवान्तं षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपो भेदः, किं वा दायते शोध्यते रूपमात्मीयं-मायास्वरूपं दानम्, अथ च दीयते रक्ष्यते प्रत्यभिज्ञातः शिवात्मा स्वस्वरूपता स्वात्मज्ञानमनुत्तरतत्त्वमेव अनुकम्पया स्वान्तेवासिभ्यस्तदनेनैव दीयते इति दानम् । यथोक्तं—

'दर्शनात्स्पर्शनाद्वापि वितताद्भवसागरात् ।
तारयिष्यन्ति योगीन्द्राः कुलाचारप्रतिष्ठिताः ॥'

योऽविपस्थो ज्ञाहेतुश्च ॥ २९ ॥

पशुमातृवर्गमाहेश्वर्यादिचक्रे प्रभुत्वेन स्थितो यः, स ज्ञानशक्ति-हेतुः, उपदेश्यान् ज्ञानशक्त्या बोधयितुं क्षमः । च-शब्दो ह्यर्थे ॥२९॥

दीक्षाशब्द इह प्रोक्तो दानक्षपणलक्षणः ॥ २८ ॥

एवं सृष्टिस्थितिध्वंसरक्षानुग्रहकृद्विभुः ॥
आत्मैव शिवरूपत्वात्तत्स्वरूपनिरूपणे ।
सूत्रं व्यस्तं समस्तं च प्रोवाचेन्दुकलाधरः ॥
योनित्वेन च विश्वस्य पर एव स्थितः प्रभुः ।
ज्ञानक्रियात्मा हेयस्य तुच्छीकरणहेतुतः ॥

'दर्शनात्स्पर्शनाद्वापि विततात्भवसागरात् ।
तारयिष्यन्ति योगीन्द्राः कुलाचारप्रतिष्ठिताः ॥'

इति ॥ २८ ॥

यथोक्तनीत्या शिवतुल्यतया नित्यमेवं व्रतजपचर्यानिष्ठत्वात् निज-शक्तिचक्रारूढः स एव तत्त्वत उपदेश्यानां प्रतिबोधक इत्याह—

रक्ष्यते प्रत्यभिज्ञातः शिवात्मा स्वस्वभावता ।
दीयते चेति यत्नेन स्वात्मज्ञानमनुत्तरत् ॥ ११९ ॥
कृपया स्वात्मशिष्येभ्यस्तनेनैव दीयते ॥ २८ ॥

एवं सम्यग्व्रतं प्रोक्तं जपं चर्यां च पालयन् ॥ १२० ॥
शिवतुल्यः सदा स्वात्मशिवाराधनतत्परः ।
अयमेव महायोगी महामन्त्रधुरन्धरः ॥ १२१ ॥

परमाद्वैतभावनायां समारूढयोगनिष्ठपुरुषाः तत्त्वजिज्ञासुनः प्राणिनः रागद्वैषाद्य-परिमेयदुःखात्मकसंसारसागरात् स्वात्मज्ञानप्रदानेन अचिरादेव तारयन्ति ॥ २८ ॥

पूर्वोक्तं सम्यग्व्रतं, जपं, चर्यां च पालयन् निरन्तरं परमशिवाराधनतत्परशील-योगिजनोऽयमेव वस्तुतः शिष्यस्यान्तस्वस्वरूपप्रत्यभिज्ञापको भवतीति प्रतिपाद्यते—

अतो योगी विश्वरूपपदस्थो ज्ञानपूर्वकः ।
हेतुर्भोगस्य मोक्षस्य प्रकृष्टः प्रतिपादितः ॥
य एवं योगिराट् सम्यक्कत्रंशाभिनिवेशतः ।
लब्धस्थितिः स विपस्थस्तज्ज्ञाने हेतुरुत्तमः ॥
अत्र ये पशवस्तेषु पतिर्मातृगणः स्मृतः ।
तत्स्थ आत्मा प्रस्फुरति तेन चक्रेश्वरस्त्वसौ ॥

अवीन् पशून् पाति इति अविपं 'कवर्गादिषु माहेश्वर्याद्याः पशुमातरः' (३–१९) इत्यभिहितदृशा माहेश्वर्यादिशक्तिचक्रं, यत्र तिष्ठति विदितस्वमाहात्म्यत्वात् प्रभुत्वेन यः प्रतपति, स ज्ञाहेतुः; जानाति इति ज्ञा ज्ञानशक्तिः, तस्या हेतुः, उपदेश्यान् ज्ञानशक्त्या प्रतिबोधयितुं क्षमः । अन्यस्तु शक्तिचक्रपरतन्त्रीकृतत्वात् स्वात्मनि अप्रभविष्णुः कथमन्यान् प्रबोधयेत् । यच्छब्दापेक्षया सूत्रेऽत्र तच्छब्दोऽध्याहार्यः । च शब्दो ह्यर्थे । योऽयमविपस्थः स यस्मात् ज्ञानप्रबोधनहेतुस्तस्माद्युक्तमुक्तम् 'दानमात्मज्ञानम्,' (३–२८) इति ।

अन्तेवासिजनस्यान्तस्तत्त्वतस्तत्त्वबोधकः ।
इत्याह भगवानीशो नित्यानुग्रहकारकः ॥ १२२ ॥
अवीन्पशुजनान्पातीत्यविपं शक्तिमण्डलम् ।
माहेश्वर्यादिकं प्रोक्तं कवर्गाद्यधिदैवतम् ॥ १२३ ॥
अधितिष्ठति यः स्वैरमविपस्थः स उच्यते ।
जानातीत्यखिलं तत् ज्ञा ज्ञानशक्तिरुदीर्यते ॥ १२४ ॥

'योऽविपस्थो ज्ञाहेतुश्च ।' अवीन्–पशुजनान् पातीत्यविपं माहेश्वर्यादिशक्तिमण्डलं-कवर्गाद्यधिष्ठात्र्यो रश्मिरूपा देव्यो भवन्ति, तासां प्रभुत्वेन यो दीव्यति अर्थात् सर्वोऽयं मद्विभव इति प्रत्यभिज्ञातस्वस्वरूपवैभवत्वात् स ज्ञाहेतुर्भवति, जानातीत्यखिलं तत् ज्ञानशक्तिः-परमस्वतन्त्रता, तस्याः हेतुः, लब्धस्थितिः योगीन्द्रः स्वज्ञानशक्त्या उपदेश्यान्

इत्थं चिद्भैरवस्यैता वृत्तयो रश्मयः स्मृताः ।
शब्दादिविषयैर्भोगैः पूजयन्त्यः सदा स्थिताः ॥
एतन्मातृगणज्ञानमत्र हेतुः स्वचिद्विभुः ॥ २९ ॥

एवं शक्तिमयस्यास्य विश्वाकारत्वमाह तत् ॥

अन्ये तु 'अक्षरसारूप्यात् प्रब्रूयात्' इति निरुक्तस्थित्या 'यो' इति योगीन्द्रः, 'वि' इति विज्ञानम्, 'प' इति पदम्, 'स्थ' इति पदस्थः इत्यस्य अन्त्यमक्षरम् । 'ज्ञ' इति ज्ञाता 'हे' इति हेयः, 'तु' इति तुच्छता, विसर्जनीयेन विसर्गशक्तिः, चकारेण अनुक्तसमुच्चयार्थेन कर्ता परामृश्यते इत्याश्रित्य, यो योगीन्द्रो विमर्शशक्त्या स्वरूपात्मविज्ञानपदस्थः, स ज्ञाता कर्ता च अवगन्तव्यः; तदा च अस्य हेयतां तुच्छतां निःसारतां, न तु उपादेयतामासादयति इति व्याचक्षते । एतच्च न नः प्रतिभाति, पदार्थसङ्गतेर्नातिचारुत्वात्; प्रतिसूत्रं च ईदृशव्याख्याक्रमस्य सहस्रशो दर्शयितुं शक्यत्वात् ॥ २९ ॥

तस्या हेतुस्तया शिष्यान्प्रतिबोधयितुं क्षमः ।
अन्यस्तु शक्तिचक्रेण परतन्त्रीकृतत्वतः ॥ १२५ ॥
स्वात्मन्येवासमर्थः सन्कथमन्यान्प्रबोधयेत् ।
यच्छब्दापेक्षया सूत्रे तच्छब्दोऽध्याहृतः स्वयम् ॥ १२६ ॥
चशब्दो ह्यर्थवाच्यत्र यस्माज्ज्ञानबोधने ।
योगी हेतुस्ततो दानमात्मज्ञानमितीरितम् ॥ १२७ ॥ २९ ॥

इत्येवमविषस्थस्य ज्ञाहेतोरस्य योगिनः ।
'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ॥' १२८ ॥

मुमुक्षुपुरुषान् स्वात्मानं प्रत्यभिज्ञापयितुं च निश्चयेन समर्थो भवति । किं वा पशुप्रमात्रधिष्ठानेषु माहेश्वर्यादिमातृकाशक्तिचक्रेषु तच्चक्रेश्वर आत्मैव प्रस्फुरति । आत्मज्ञानप्रदानेऽसमर्थस्तु शक्तिमण्डलेन परतन्त्रीकृतत्वतः स्वात्मन्यैवासमर्थः सन् परान् कथं प्रत्यभिज्ञापयेत् । अत एव योऽविपस्थो भवति स एव आत्मज्ञानप्रदाने हेतुर्भवति । तत एव 'दानमात्मज्ञानम्' इति पूर्वसूत्रेण साधुः कथितः ॥ २९ ॥

स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम् ॥ ३० ॥

यतः अयं शिवतुल्य उक्तः ततो यथा

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नम्·········।'

एवं शक्तिमतश्चास्य शक्तयः स्वाश्चिदादयः ।
तासां नवनवोल्लासस्पन्दा ये प्रचयाः स्मृताः ॥

अस्य च--

यतोऽयं शिवतुल्य उक्तस्ततो यथा--

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नम्··············।'

इत्याद्याम्नायदृष्टया शिवस्य विश्वं स्वशक्तिमयं, तथा अस्यापि स्वस्याः संविदात्मनः शक्तेः, प्रचयः क्रियाशक्तिस्फुरणरूपो विकासो, विश्वम् । यदुक्तं श्रीमृत्युजिति--

'यतो ज्ञानमयो देवो ज्ञानं च बहुधा स्थितम् ।
नियन्त्रितानां बद्धानां त्राणं तन्नेत्रमुच्यते ॥'

कालिकाक्रमेऽपि--

'तत्तद्रूपतया ज्ञानं बहिरन्तः प्रकाशते ।
ज्ञानादृते नार्थसत्ता ज्ञानरूपं ततो जगत् ॥

इत्यागमदिशा विश्वं स्वशक्तिप्रचयो यथा ।
शिवस्य, तत्समस्यापि तथास्य परयोगिनः ॥ १२९ ॥

साम्प्रतं ज्ञानशक्तिहेतोरस्य योगिनो विश्वाकारत्वमिति प्रतिपाद्यते—'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम् ।'

'शक्तिश्च शक्तिमांश्च पदार्थद्वयमुच्यते ।
शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ॥'

इत्युक्तनयेन यथा अनुत्तरधाम्नो भगवतः परमशिवस्य जगदिदं स्वशक्तिप्रचयोऽस्तीति प्रतिपादितम् । एवमस्यापि ज्ञाननिष्ठयोगीन्द्रस्य स्वस्याः स्वसंवेदनात्मनः शक्तेः, प्रचयः जगन्निर्माणसामर्थ्यः-क्रियाशक्तिस्फुरणात्मकविकासो विश्वं भवति ।

एतस्मिन् विश्वेऽस्मिन् परिदृश्यमानानां वेद्यवस्तुवेतॄणां उल्लेखनरूपाक्रियाशक्तिस्वातन्त्र्यणैव अभिव्यक्तिर्भवति । यथोक्तं प्रत्यभिज्ञायां—

इति आम्नायदृष्टचा शिवस्य विश्वं स्वशक्तिमयम्, तथा अस्यापि स्वस्याः संविदात्मनः शक्तेः प्रचयः क्रियाशक्तिस्फुरणरूपो विकासो विश्वम् ॥ ३० ॥

त एव विश्वं विज्ञेयं यतः शक्त्यात्मना विभुः ।
जगद्रूपः प्रस्फुरति स्फुरन्नेवात्मना सदा ॥ ३० ॥

न हि ज्ञानादृते भावाः केनचिद्विषयीकृताः ।
ज्ञानं तदात्मतां यातमेतस्मादवसीयते ॥
अस्तिनास्तिविभागेन निषेधविधियोगतः ।
ज्ञानात्मता ज्ञेयनिष्ठा भावानां भावनाबलात् ॥
युगपद्वेदनाज्ज्ञानज्ञेययोरेकरूपता ।'

इति ॥ ३० ॥

स्वस्याः स्वात्माविमुक्तायाः शक्तेः संवेदनात्मनः ।
प्रचयः स्फुरणारूपो विकासो विश्वमिष्यते ॥ १३० ॥ ३० ॥

न परं सृष्टचवस्थायाममुष्य परयोगिनः ।
स्वशक्तिप्रचयो विश्वं यावत्तत्पृष्ठपातिनौ ॥ १३१ ॥

'वर्तमानावभासानां भावानामवभासनम् ।
अन्तःस्थितवतामेव घटते बहिरात्मना ॥'
चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद्बहिः ।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥'

अत एव चिदात्मैव तत्तदाकारप्रकारैः बहिरन्तः प्रकाशते । तथा चोक्तं—

'तत्तद्रूपतया ज्ञानं बहिरन्तः प्रकाशते ।
ज्ञानादृते नार्थसत्ता ज्ञानरूपं ततो जगत् ॥
नहि ज्ञानादृते भावाः केनचिद्विषयीकृताः ।
ज्ञानं तदात्मतां यातमेतस्मादवसीयते ॥'

अर्थात् नीलसुखादिरूपेण आन्तरबाह्यावभासमानानां भावानामवभाससाररूपत्वात् तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन भिन्नं सत्ता न विद्यते ॥ ३० ॥

स्थितिलयौ ॥ ३१ ॥

बहिर्मुखत्वावभासनं, चिन्मयप्रमातृविश्रान्तिश्च स्वशक्तिप्रचय, इति अनुवर्तते ।। ३१ ।।

एवं सृष्टिकृदेवात्मा स्थितिकृल्लयकृद्यथा ।
तथा प्रदर्शयन्नाह सूत्रं त्रिपुरसूदनः ।।

न केवलं सृष्टिदशायां निजशक्तिविकासोऽस्य विश्वं, यत् तत्पृष्ठपातिनौ--

'स्वशक्तिप्रचयः' इत्यनुवर्तते। क्रियाशक्त्याभासितस्य विश्वस्य तत्तत्प्रमात्रपेक्षं कंचित्कालं बहिर्मुखत्वावभासनरूपा या स्थितिः, चिन्मयप्रमातृविश्रान्त्यात्मा च यो लयः, तावेतौ एतस्य स्वशक्तिप्रचय एव; तत्तद्वेद्यं हि आभासमानं विलीयमानं च निजसंविच्छक्त्यात्मकमेव, अन्यथा अस्य संवेदनानुपपत्तेः। अत एव श्रीकालिकाक्रमे--

स्वशक्तिप्रचयौ प्रोक्तौ तावपीत्यनुवर्तते ।
विकासितस्य विश्वस्य क्रियामय्या स्वसंविदा ॥ १३२ ॥
तत्तत्प्रमात्रपेक्षातः किंचित्कालमिदन्तया ।
या स्थितिश्चिन्मयाहंताविश्रान्त्यात्मा च यो लयः ॥ १३३ ॥

एवं च सृष्टिदशायामेव न केवलं निजशक्तिप्रचयोऽस्य योगिनो विश्वमस्ति, अपि तु कतिचित्कालावधिस्वाभासनरूपस्थितिः स्वात्मविश्रान्त्यात्मकलयोऽपि च तत्र भवत्येवेति दर्शयति—'स्थितिलयौ।' प्रकृतप्रसङ्गे 'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्' इति पूर्वोक्तसूत्रस्य अध्याहारः कर्तव्यम्। क्रियाशक्तिमय्या स्वसंविदा आभासितस्य विश्वस्य भिन्नभिन्नप्रमात्रपेक्षं किञ्चित्कालं वैचित्र्येण बाह्यरूपेण या विकासनात्मा स्थितिः चिन्मयप्रमातृविश्रान्त्यात्मको च विलयस्त, एतद्द्वयेन अस्य सुप्रबुद्धयोगिनो निजशक्तिविकास एव भवति। यतो हि विकसत् संकुचच्च समस्तं संवेद्यविषयं स्वसंविच्छक्तिरूपत्वमेव अस्ति। अन्यथा अस्य वेद्यविषयस्य संवेदनानुपपत्तिः स्यात्। कल्पितस्य शून्यस्य मायीयस्य वा प्रमातुरपेक्षया विश्वस्य बाह्यावभासनमयी स्थितिरुच्यते। प्रकल्पितप्रमातृरूपताऽभावे तं प्रति अपेक्षितबाह्यविश्वस्य अनवभासमानत्वात् चिन्मयोपशान्तिविलयः, तथा चोभयविध-

तत्प्रवृत्तावप्यनिरासः संवेत्तृभावात् ॥ ३२ ॥

सृष्ट्यादिभेदोन्मज्जने सत्यपि नास्य योगिनः तुर्यचमत्कारात्मकविमर्शमयात् उपलब्धृत्वात् चलनम् ॥ ३२ ॥

तैरेव शक्तिप्रचयैर्वृत्त्युल्लासस्वरूपकैः ।
चिदात्मैव स्थितिलयौ प्रकरोति निजेच्छया ॥ ३१ ॥

एवं सृष्टिस्थितिध्वंसकालेऽप्यात्मा निजस्थितिः ।
यथा भवति तत्राह सूत्रं शास्त्रार्णवो हरः ॥

'अस्तिनास्तिविभागेन................. ।'

इत्यादि स्थितिलयपरत्वेनोक्तम् । तथा—

'सर्वं शुद्धं निरालम्बं ज्ञानं स्वप्रत्ययात्मकम् ।
यः पश्यति स मुक्तात्मा जीवन्नेव न संशयः ॥'

इति ॥ ३१ ॥

नन्वेवं सृष्टिस्थितिलयावस्थासु अन्योन्यभेदावभासमयीषु अस्य स्वरूपान्यथात्वमायातम् ! इत्याशङ्काशान्त्यर्थमाह—

तावुभौ योगिनस्तस्य स्वशक्तिप्रचयात्मकौ ।
विकसत्संकुचत्सर्वं वेद्यं यत्संविदात्मकम् ॥ १३४ ॥
अन्यथा तस्य वेद्यस्य वेदनानुपपत्तितः ॥ ३१ ॥
ननु सृष्टिस्थितिध्वंसेष्वेवमन्योन्यभेदिषु ॥ १३५ ॥

स्थितिविलयद्वयस्य स्वसंविद्रूपतैव सिध्यति । संविदोऽभावे तु द्वयोः स्थित्योरुपलब्धिरेव न भवेदिति । तस्मात् श्रीकालिकाक्रमे—

'अस्तिनास्तिविभागेन................. ।'

इत्यादिना स्थितिप्रलयपरत्वेन प्रतिपादितं भवति । एवं च स्वाहन्तात्मकं सर्वं निरालम्बं शुद्धं ज्ञानं यो योगिजनः स्वान्तःकरणे पश्यति, स सदा प्राणान् धारयन्नपि विमुक्तात्मा भवेत् तत्र न संशयः कर्तव्यः ॥ ३१ ॥

ननु सृष्टिस्थितिप्रलयानां परस्परभेदेन योगिनः स्वात्मस्वरूपेऽन्यथात्वमायातीति आशङ्कामपोहनार्थमाह—'तत्प्रवृतावप्यनिरासः संवेतृभावात् ।' सृष्टिस्थितिलयानामन्योऽ-

तेषां सृष्ट्यादिभावानां प्रवृत्तावपि चिद्विभुः ।
स्वस्थितिं न जहात्येव सदा संवेत्तृभावतः ॥

तेषां सृष्ट्यादीनां प्रवृत्तावपि उन्मज्जनेऽपि नास्य योगिनः संवेत्तृभावात् तुर्यचमत्कारात्मकविमर्शमयात् उपलब्धृत्वात्, निरासश्चलनम्; तन्निरासे कस्यचिदप्यप्रकाशनात् । यदुक्तं तत्रैव—

'नाशेऽविद्याप्रपञ्चस्य स्वभावो न विनश्यति ।
उत्पत्तिध्वंसविरहात्तस्मान्नाशो न वास्तवः ॥
यतोऽविद्या समुत्पत्तिध्वंसाभ्यामुपचर्यते ।
यत्स्वभावेन नष्टं न तन्नष्टं कथमुच्यते ॥'

अन्यथात्वं समायातं स्वस्वरूपस्व योगिनः ।
इत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थं सूत्रमाह महेश्वरः ॥ १३६ ॥
तेषां सृष्टयादिभावानां प्रवृत्तावप्यनारतम् ।
उन्मज्जनेऽपि निष्कम्पयोगावष्टम्भशालिनः ॥ १३७ ॥
'अवस्थायुगलं चात्र कार्यकर्तृत्वशब्दितम् ।
कार्यता क्षयिणी तत्र कर्तृत्वं पुनरक्षयम् ॥ १३८ ॥
कार्योन्मुखः प्रयत्नो यः केवलं सोऽत्र लुप्यते ।
तस्मिंल्लुप्ते विलुप्तोऽस्मीत्यबुधः प्रतिपद्यते ॥ १३९ ॥

न्यभेदरुन्मज्जने सत्यपि योगावष्टम्भशालिनो योगिनः संवेतृभावात् तुर्यचमत्कारादुपलब्धृस्वभावतः प्रच्युतिर्नैव भवति । अथ च अविद्यात्मकभवप्रपञ्चस्य विनाशे जाते सति योगिनरात्मस्वभावो न प्रणश्यति । तस्मात् उत्पत्तिविनाशराहित्यात्, स्वरूपगतपारमार्थिको विनाशो न भवति । अत एव उक्तं च चिद्रूपस्य अविनाशधर्मत्वे—

'विज्ञप्तेर्न विनाशोऽस्ति विनष्टेऽपि शरीरके ।
अभावे सूर्यकान्तस्य नैवास्ति सवितुः क्षतिः ॥'

कस्माच्चेत्याह स्पन्दकारिकायां—

'न तु योऽन्तर्मुखो भावः सर्वज्ञत्वगुणास्पदम् ।
तस्य लोपः कदाचित्स्यादन्यस्यानुपलम्भनात् ॥' १६ ॥

देशकालादिविच्छिन्नस्य कार्यस्यैव लोपो भवति । किन्तु योऽन्तर्मुखो भावः सर्वज्ञतादीनां गुणानामाश्रयोऽसि तस्य विलोपः कदापि नैव उपपद्यते । कथं न भवति ?

अनिरासोऽत्राविलोपः संवेत्तृत्वे विशेषणम् ।
इत्थं लोपो व्यवस्थानां नावस्थातुः कदाचन ।।
निरूपितं स्यात्सर्वत्रानुस्यूतत्वस्वरूपतः ।। ३२ ।।

एवं सुखासुखे अत्र निरूपयितुमाह च ।।

इति । एतदेव स्पन्दे—

'अवस्थायुगलं चात्र कार्यकर्तृत्वशब्दितम् ।
कार्यता क्षयिणी तत्र कर्तृत्वं पुनरक्षयम् ।।'

तथा ।

'कार्योन्मुखः प्रयत्नो यः केवलं सोऽत्र लुप्यते ।
तस्मिल्लुप्ते विलुप्तोऽस्मीत्यबुधः प्रतिपद्यते ।।
न तु योऽन्तर्मुखो भावः सर्वज्ञत्वगुणास्पदम् ।
तस्य लोपः कदाचित्स्यादन्यस्यानुपलम्भनात् ।।'

इत्यनेनोक्तम् ।। ३२ ।।

न तु योऽन्तर्मुखो भावः सर्वज्ञत्वगुणास्पदम् ।
तस्य लोपः कदाचित्स्यादन्यस्यानुपलम्भनात् ।।' १४० ।।
इति श्रीस्पन्दशास्त्रोक्तनीत्या तस्यास्य योगिनः ।
अनिरासः स्वसंवेत्तृभावादप्रच्युतिर्निजात् ।। १४१ ।।
उद्यत्तुर्यचमत्कारादुपलब्धृस्वभावतः ।
निरासे तस्य सृष्टयादेः सृज्यस्याप्यप्रकाशनात् ।। १४२ ।। ३२ ।।

चिद्रूपव्यतिरिक्तस्य अन्यस्यानुपलब्धिरेव, तस्यैव हि सर्वत्र सदोपलब्धिर्भवति । यदुक्तं—

'देशकालक्रियाकारैरवच्छिन्नेषु वस्तुषु ।
अनवच्छिन्नरूपस्त्वं भासि तस्य बहिःस्थितेः ।।'

अत्र च—

'भेदसर्वज्ञतादीनां ज्ञानादीनां च नास्त्यमी ।
ज्ञानस्यैव धर्मतया चिद्रूपस्य स्थितिर्यतः ।।'

तदुक्तं—

सुखासुखयोर्बहिर्मननम् ॥ ३३ ॥

वेद्यस्पर्शजातयोः बहिः नीलादिवत् इदन्ताभासरूपतया मननं

अदिव्यविषयास्वादादिष्टप्राप्त्यादिनोदितम् ।
प्रत्यगात्मनि बाह्यान्तःसुखस्य मननं मतम् ॥
दुःखं त्रिधा पञ्चधा च पुनर्भेदैरनन्तकम् ।
आध्यात्मिकादित्रितयं तापत्रितयमेव तत् ॥
तमो मोहो महामोहस्तामिस्रश्च चतुर्थकः ।
अन्धतामिस्र एवान्यदत्राष्टप्रकृतिः स्थितः ॥

अस्य योगिनः—

वेद्यस्पर्शजातयोः सुखदुःखयोर्बहिरिव नीलादिवत् इदन्ताभासतया मननं संवेदनं, न तु लौकिकवत् अहन्तास्पर्शनेन; अस्य हि 'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्' (३–३०) इत्युक्तसूत्रार्थनीत्या सर्वम् अहन्ताच्छादितत्वेन स्फुरति, न तु नियतं सुखदुःखाद्येव, इत्येवंपरमेतत् । योगी हि प्रशान्तपुर्यष्टकप्रमातृभावः कथं सुखदुःखाभ्यां स्पृश्यते । तथा च श्रीप्रत्यभिज्ञासूत्रविमर्शिन्याम् ।

विश्वसृष्टिस्थितिध्वंसेष्वप्रकम्पस्य योगिनः ।
उत्तीर्णदेहप्राणादिप्रमातृत्वस्य धीमतः ॥ १४३ ॥
वेद्यस्पर्शजयोस्तस्य मननं सुखदुःखयोः ।
इदन्ताभासरूपेण नीलपीतादिवद्बहिः ॥ १४४ ॥

'स्वतन्त्रः सर्वकृत्येषु न नियोज्यो न विघ्नवान् ।
प्रवृत्तोऽस्य प्रवृत्तो वा यस्तेन त्वमीश्वरम् ॥
वीर्यं सदाऽविलुप्तशक्तिः नाशाभावश्च तद्व्रतः ।'

इत्यादिना निरूपितं भवति ॥ ३२ ॥

विश्वसृष्टिलयेषु निष्कम्पयोगिनो लोकवत् सुखासुखयोरपि संवेदनं न भवतीति निर्दिशति—'सुखासुखयोर्बहिर्मननम् ।' अस्य महायोगनिष्ठपुरुषस्य लौकिकप्राणीव सुखदुःखयोः संवेदनं नैव भवति । स तु इदन्ताभासरूपेण नीलादिवद्बहिरेव संवेदनं करोति ।

संवेदनम्, न तु लौकिकवत् अहन्तासंस्पर्शनेन। योगी प्रशान्तपुर्यष्टक-प्रमातृभावः कथं सुखासुखाभ्यां स्पृश्यते ॥ ३३ ॥

आत्माभिमानस्तु तमो मोहो देहात्मता मतः।
महामोहस्तु बाह्यस्य पुत्रादेरात्मरूपता ॥
तामिस्रः स्यात्कुटुम्बादिबाधाकर्तर्यमर्षणम्।
पञ्चमस्त्वन्धतामिस्रो मरणत्रास एव यः ॥

'ग्राहकभूमिकोत्तीर्णानां वास्तवप्रमातृदशाप्रपन्नानां तत्तत्स्वहेतूपस्थापितसुखदुःखसाक्षात्कारेऽपि न तेषां सुखदुःखादि, नोत्पद्यत एव वा सुखादि हेतुवैकल्यात्, सहजानन्दाविर्भावस्तु तदा स्यात् ॥'
इत्युक्तम्। अत एव--

'न दुःखं न सुखं यत्र न ग्राह्यं ग्राहको न च।
न चास्ति मूढभावोऽपि तदस्ति परमार्थतः ॥'

इति स्पन्दे निरूपितम् ॥ ३३ ॥

अहं सुखीति दुःखीति लोकवन्नत्वहन्तया।
स्वशक्तिप्रचयो विश्वमिति सूत्रार्थनीतितः ॥ १४५ ॥
अहन्ताच्छादितत्वेन सर्वमस्य प्रकाशते।
योगिनो लौकिकस्येव सुखाद्येव न केवलम् ॥ १४६ ॥
अतिक्रान्तमहामोहाक्रान्तदेहाद्यहंकृतिः।
लोकवत्सुखदुःखाभ्यां कथं स्पृश्येत योगिराट् ॥ १४७ ॥ ३३ ॥

यतो हि 'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्।' इति सूत्रार्थनयेन सर्वमस्य आहन्ताच्छादितत्वेन प्रकाशते। अत एव समुत्तीर्णदेहप्राणपुर्यष्टकप्रमातृभावो योगिजनो सुखदुःखाभ्यां धर्माभ्यां कथमपि न स्पृश्यते। तथा चाहुः वसुगुप्तपादाः स्पन्दे—

'न दुःखं न सुखं यत्र न ग्राह्यं ग्राहको न च।
न चास्ति मूढभावोऽपि तदस्ति परमार्थतः ॥ ५ ॥

वस्तुतः तस्य तदनुत्तरतत्त्वं नित्यमस्ति। यत्र न आध्यात्मिकादिदुःखम्, न विषयसम्बन्धिसुखमस्ति, न घटपटादिरूपग्राह्यमस्ति किमपि, न च ग्राहकमहमिदं गृह्णामीति विकल्पाहङ्काररूपत्वमविद्यारूपत्वादहङ्कारस्य। न त्वनेनाधिष्ठातृभावस्य ग्राहकस्याभावः प्रोक्तः, उभयरूपत्वाच्च तस्य। उक्तं च—

तद्विमुक्तस्तु केवली ॥ ३४ ॥

ताभ्यां सुखदुःखाभ्यां विशेषेण मुक्तः संस्कारमात्रेणापि अन्तर-संस्पृष्टः केवली केवलं चिन्मात्रप्रमातृरूपं यस्य ।। ३४ ।।

अत एव विभेदेन पुनर्गच्छत्यनन्तताम् ।
चितः कर्तृधरावेशदार्ढ्यात्तादात्म्यरूपतः ।।
सुखदुःखाद्यवस्थाख्यमननं यदुदेत्यलम् ।
कुतश्चित्कारणाद्वापि तदनावरकं भवेत् ।। ३३ ।।

अतस्तन्मननं बाह्यमन्तर्विशति नो यदा ।
तदा तन्मुक्त आत्मैव कीदृशः स्यात्तदाह च ।।

यतश्च उत्तीर्णपुर्यष्टकप्रमातृभावस्य योगिनो नान्तः सुखदुःखसंस्पर्शः, अत एवासौ--

ताभ्यां सुखदुःखाभ्यां विशेषेण मुक्तः संस्कारमात्रेणापि अन्तर् असंस्पृष्टः, केवली, केवलं चिन्मात्रप्रमातृतारूपं यस्य । तदुक्तं श्रीकालिकाक्रमे--

उदंचच्चित्प्रमातृत्वन्यंचत्पुर्यष्टकस्थितेः ।
यतो न तत्सुखाद्यन्तस्तत एवैष साधकः ॥ १४८ ॥

'परमार्थेन न ग्राह्यं ग्राहकं वा न किञ्चन ।
यस्मादृते तत्स्वाभासमस्वाभासमिवेक्ष्यते ।।'

एवं तर्हि तत् पाषाणतुल्यं मूढत्वमेव भवेत् ? यतो हि चिद्रूपत्वात् मूढावमोऽपि तत्र न विद्यते । उक्तं च—

'यथा शीतोष्णयोर्मध्ये काले नोष्णो न शीतलः ।
एवं हि सुखदुःखाभ्यां हीनमस्ति पदं विभोः ।।'

इत्यादिना विवेचितं भवति ॥ ३३ ॥

प्रशान्तदेहप्राणादिप्रमातृभावस्य अस्य यतो नान्तः सुखदुःखयोः स्पर्शनं भवति तत एव योगी—'तद्विमुक्तस्तु केवली ।' पूर्वसूत्रोक्तं सुखदुःखाभ्यामन्तःकरणधर्माभ्यां

मोहप्रतिसंहतस्तु कर्मात्मा ।। ३५ ।।

मोहेन अज्ञानेन प्रतिसंहतः तदेकघनः । उक्तं च—

ताभ्यां च सुखदुःखाभ्यां मूढभावेन च प्रभुः ।
विमुक्तः केवलः स्वस्थः सर्वानुस्यूतवृत्तितः ।। ३४ ।।

मूढभावश्छादकः स्यान्न वा तन्निजगाद च ।
मोहो मौर्ख्यमनुद्योगस्त्वविद्या जाड्यमावृतिः ।

'सुखदुःखादिविज्ञानविकल्पानल्पकल्पितम् ।
भित्त्वा द्वैतमहामोहं योगी योगफलं लभेत् ।।'

इति । तु-शब्दो वक्ष्यमाणापेक्षया विशेषद्योतकः, एवमुत्तरसूत्रगतोऽपि एतत्सूत्रापेक्षया ।। ३४ ।।

यदाह—

मोहेन अज्ञानेन, प्रतिसंहतः तदेकघनः, तत एव सुखदुःखाश्रयो यः, स पुनः कर्मात्मा नित्यं शुभाशुभकलङ्कितः । तदुक्तं तत्रैव—

ताभ्यां मुक्तो विशेषेण योगीन्द्रो यत्तयोर्यतः ।
संस्कारेणाप्यसंस्पृष्टः केवली चिन्मयः स्मृतः ।। १४९ ।।
तुशब्दोऽन्तरमाख्याति वक्ष्यमाणव्यपेक्षया ।
एवमुत्तरसूत्रस्थोऽप्येतत्सूत्रव्यपेक्षया ।। १५० ।। ३४ ।।

तदेवाह तुशब्दोक्तमन्तरं चन्द्रशेखरः ।
मोहः स्वाख्यातिरज्ञानं तेन यः प्रतिसंहतः ।। १५१ ।।

विमुक्तस्तत्संस्कारेणाप्यान्तरसंस्पृष्टो योगीन्द्रो केवली चिन्मय इति कथ्यते । तथा च योगी सुखदुःखादिविज्ञानविकल्पेन अनेकशः अकल्पितमपि द्वैतज्ञानं निरस्य योगफलमाप्नुयात् । तु-शब्द अग्रिमसूत्रापेक्षया विशेषताद्योतकः । तथैव अग्रिमस्थोऽपि तु-शब्दः पूर्वसूत्रापेक्षया विशेषताव्यञ्जकः ।। ३४ ।।

यत्तु-शब्देनोक्तमन्तरं तदेव शङ्करः कथयति—'मोहप्रतिसंहतस्तु कर्मात्मा ।' मोहो नाम निजाख्यात्मकाज्ञानं, तेन प्रतिसंहत.—प्राप्ततादात्म्यभावः । तत एव यः

'अज्ञानैकघनो नित्यं शुभाशुभकलङ्कितः ।'

इति ॥ ३५ ॥

अविवेकश्च मूर्छादिपर्यायैरेभिरुच्यते ॥
शरीरादेरहंभावो यस्मिन्सति विजृम्भते ।
प्रतिसंहत एवात्मा व्याप्तस्तेन निरन्तरम् ॥
कर्मात्मा तस्य च प्रोक्तः संसारी पशुरित्यसौ ।
तदा भेदावभासित्वमभेदाख्यातिलक्षणम् ॥ ३५ ॥

'यदविद्यावृततया विकल्पविधियोगतः ।
शिवादीन्नैव झटिति समुद्भावयतेऽखिलान् ॥
ततः शुभाशुभा भावा लक्ष्यन्ते तद्वशत्वतः ।
अशुभेभ्यश्च भावेभ्यः परं दुःखं प्रजायते ॥'

इति ॥ ३५ ॥

तदेकघनतां प्राप्तस्ततो दुःखाद्युपाश्रयः ।
तत एव स कर्मात्मा शुभाशुभकलङ्कितः ॥ १५२ ॥ ३५ ॥

तस्यैवमीदृशस्यापि तत्तत्कर्मात्मनो यदा ।
अनर्गलमहेशानशक्तिपातात्समुन्मिषन् ॥ १५३ ॥

सुखदुःखाश्रयो भवति । स कर्मात्मा संसारी जीवो नित्यं पापपुण्याभ्यां प्रदूषितो जायते । यथोक्तम्—

अज्ञानैकघनो नित्यं शुभाशुभकलङ्कितः ।

अज्ञानावरणेन नानाविधसम्बन्धात् यो योगी अखिलान् शिवादीन्-षट्त्रिंशत्तत्त्वानि अचिरादेव नैव गमयति । ततस्तद् वशीभूतेन च तस्य योगिनः शुभाशुभभावाः दृश्यन्ते । अशुभेभ्यो भावेभ्यश्च अत्यन्तं दुःखं प्रजायते । यतो हि मूढप्राणिनः घटपटादिवेद्यवस्तुविकल्पजालकल्पनामास्थितस्य शिवादितत्त्वानामनुत्तरचिद्रूपस्वभावतया अविमर्शतो मालीयमलमलिनतां प्राप्य शुभाशुभकार्यमलसमुत्थदुःखानुभवो जायते । किन्तु तत्त्वविदो विश्वत्र भावपटले 'स्वात्मविलसितमिदं सर्वमस्ति' इत्थं स्वानुभवेन प्रविविक्षानस्य सहजचिद्रूपघनस्य आविर्भावो भवति ॥ ३५ ॥

भेदतिरस्कारे सर्गान्तरकर्मत्वम् ॥ ३६ ॥

शरीरप्राणाद्यहन्ताभिमानात्मनो भेदस्य, तिरस्कारे चिद्घन-स्वभावोन्मज्जनात् अपहस्तने सति, सर्गान्तरकर्मत्वं यथाभिलषित-निर्मेयनिर्मातृत्वं भवति ॥ ३६ ॥

मोहे सत्यात्मनोऽहन्तेदन्तारूपं सदा स्थितम् ।
तदुद्वेष्टनयोगेन कर्तृभूमिसमाश्रयात् ॥
प्रबुद्धः शिवरूपः स्यादात्मा नित्यं निजस्थितिः ॥
भेदाभावे भवत्यस्य किं तदाहात्र शंकरः ॥

एवमीदृशस्यापि कर्मात्मनो यदा अनर्गलमाहेशशक्तिपातवशोन्मि-षितसहजस्वातन्त्र्ययोगो भवति, तदा अस्य--

शरीरप्राणाद्यहन्ताभिमानात्मनः सकलप्रलयाकलादिप्रमातृचितस्य भेदस्य, तिरस्कारे स्थितस्यापि चिद्घनस्वभावोन्मज्जनाद् अपहस्तने सति, क्रमेण मन्त्र-मन्त्रेश्वर-मन्त्रमहेश्वरात्मकस्वमाहात्म्यावाप्तौ, सर्गान्तरकर्मत्वं यथाभिलषितनिर्मेयनिर्मातृत्वं भवति । तथा च श्रीस्वच्छन्दे–

'त्रिगुणेन तु जप्तेन स्वच्छन्दसदृशो भवेत् ।'

इति स्वच्छन्दसादृश्येन भेदतिरस्कारमस्य उक्त्वा--

स्वातन्त्र्ययोगः सहजः प्रादुरस्ति, तदास्य तु ।
भेदस्य देहप्राणादिमिताहंकृतिजन्मनः ॥ १५४ ॥
कलादिवलितभ्रान्तसकलाद्युचितात्मनः ।
तिरस्कारे स्थितस्यापि स्वोन्मेषादपहस्तने ॥ १५५ ॥

इत्थं कर्मात्मनो योगिनो निर्बाधमहेशानशक्तिपातादेव सहजस्वातन्त्र्याख्यज्ञानयोगो प्रादुर्भवतीति निर्दिशति—'भेदविस्तारे सर्वान्तरकर्मत्वम् ।' यद्यपि देहप्राणादि तादात्म्य-मिथ्याप्रकल्पिताध्यासेन योऽहन्तारूपो भेदो योगिनि संजायते, तथापि तस्य भेदस्य निवृत्तिस्तु चिदानन्दस्वात्मस्वरूपोन्मेषाद् भवति । एवं च स प्रबुद्धयोगी मन्त्र-मन्त्रेश्वर-मन्त्रमहेश्वरात्मना अर्थात् शुद्धविद्या-ईश्वर-सदाशिवरूपेण क्रमशः प्राप्नोति । अस्मादेव

करणशक्तिः स्वतोऽनुभवात् ॥ ३७ ॥

न च एतत् निर्मेयनिर्मातृत्वमस्यासंभाव्यम्, यतः स्वतः स्वस्मात्

आत्मैव सर्वं बुद्धत्वाद्भिन्नं नेहास्ति किंचन ।
विश्वमातृभिरेतच्च स्वसूत्रेषु निरूपितम् ॥
निवृत्तस्य प्रवृत्तस्य निश्चलैव यदा स्थितिः ।
त्रिषयस्य हि बुद्धानां तत्साम्यमजमव्ययम् ॥
इत्थं भेदतिरस्कारे सत्येकाकारतात्मनः ।
तेन सर्गान्तरं सृष्टेरपूर्वोल्लेख एव यः ॥
तत्कर्मत्वं कर्तृता स्याद्यथारुचि चिदात्मनः ॥ ३६ ॥

अत्र हेतुं सुराधीशः प्राह सर्गान्तरं प्रति ।

**'ब्रह्मविष्ण्वन्द्रदेवानां सिद्धदैत्योरगेशिनाम् ॥
भयदाता च हर्ता च शापानुग्रहकृद्भवेत् ।
दर्पं हरति कालस्य पातयेद्भूधरानपि ॥'**

इत्युक्तम् ॥ ३६ ॥

न च एतदस्य असंभाव्यम्, यतः—

स्वतः स्वस्मादेवानुभवात् संकल्पस्वप्नादौ, करणशक्तिः तत्तदसाधारणार्थनिर्मातृत्वम् आत्मनः सिद्धमेव । अनेनैव आशयेन श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

मन्त्रमन्त्रेशतादात्म्यस्वमाहात्म्यप्रकाशनात् ।
स्यात्सर्गान्तरकर्मत्वममुष्य परयोगिनः ॥ १५६ ॥
यथाभिलाषनिर्मेयनिर्मातृत्वं स्फुटं भवेत् ॥ ३६ ॥

नचैतदप्यसंभाव्यं स्रष्टृत्वं योगिनो यतः ॥ १५७ ॥

स्वमाहात्म्यज्ञानप्रकाशात् अमुष्मिन् परयोगिनि सर्गान्तरकर्मत्वं यथा अभिषितवस्तुनिर्मातृत्वम् आयाति । अयमेव अनर्गलमाहेश्वर्यशक्तिपातरूपसहजस्वातन्त्र्ययोगोऽस्ति ॥ ३६ ॥

सम्प्रति अस्य योगिजनस्य कृते निर्मेयनिर्मातृत्वमपि असंभवं नास्तीति

एव अनुभवात् संकल्पस्वप्नादौ करणशक्तिः तत्तदसाधारणार्थनिर्मातृत्वम् आत्मनः सिद्धमेव ॥ ३७ ॥

शक्तिः सर्गान्तरोत्पादे सामर्थ्यं करणेषु यत् ।
तत्स्वतोऽनुभवात्सिद्धमकृत्रिमबलाश्रयात् ॥
यतः करणसामर्थ्यमात्मावेशबलाद्भवेत् ।
तेन सत्यधरारूढो यादृशं कार्यमिच्छति ॥

'अत एव यथाभीष्टसमुल्लेखावभासनात् ।
ज्ञानक्रिये स्फुटे एव सिद्धे सर्वस्य जीवतः ॥'

इत्युक्तम् । तथासंभवात् यदि चैतत् गाढाभिनिवेशेन विमृशति, तदा सर्वसाधारणा अभीष्टार्थनिर्मातृततापि भवति । तदुक्तं तत्त्वगर्भे—

'यदा तु तेऽपि सुव्यक्तस्वसामर्थ्यगुणोज्ज्वलाः ।
भवेद्दृष्टतादूरदारिता दार्ढ्यदीनता ।
तदा च तेषां संकल्पः कल्पपादपतां व्रजेत् ॥'

इति ॥ ३७ ॥

स्वतः स्वस्मादनुभवात् स्वप्नसंकल्पनादिषु ।
करणं निजसंवेद्यग्राह्यग्राहकनिर्मितिः ॥ १५८ ॥
शक्तिस्तत्कर्तृतोन्मेषः स्वसंवित्त्यैव सिध्यति ।
संभवन्तीं तथा सृष्टिं यदि दार्ढ्येन भावयेत् ॥ १५९ ॥
सर्वसाधारणशेषनिर्मितिश्च भवेत्तदा ॥ ३७ ॥

यतः करणशक्त्यात्र शक्तिः स्वातन्त्र्यरूपिणी ॥ १६० ॥

दर्शयति—'करणशक्तिः स्वतोऽनुभवात् ।' स्वतः स्वस्मात् सहजानुभवप्रकाशबलात् स्वप्नसंकल्पनादिषु विश्ववैचित्र्यनिर्माणसामर्थ्यात्मककरणशक्तिस्तत्कर्तृतोन्मेषः स्वसंवित्त्यैव सिद्धिर्भवति । यदाहुः प्रत्यभिज्ञायामाचार्योत्पलपादाः—

'अत एव यथाभीष्टसमुल्लेखावभासनात् ।
ज्ञानक्रिये स्फुटे एव सिद्धे सर्वस्य जीवतः ॥' १-६-११ ॥

यदिदं यथाभिमतस्य बहिरसत्त्वात् अननुभूतस्यापि सम्यग्रूपेण उल्लेखनम्

त्रिपदाद्यनुप्राणनम् ॥ ३८ ॥

त्रयाणां सृष्टिस्थितिलयशब्दोक्तानां भावौन्मुख्यतदभिष्वङ्ग-तदन्तर्मुखीभावनामयानां पदानामवस्थानां, यदादि प्रधानमानन्दघनं

ताद्दशं प्रकरोत्येव संकल्पं परमेश्वरः ।
तद्यप्युक्तमिदं सर्वं तथापि व्यक्तये पुनः ॥
प्रकारान्तरमत्रोक्तं विचित्राः सिद्धयो यतः ॥ ३७ ॥

एवं स्वानुभवस्तुर्यपदरूपः स्फुरत्यलम् ।
यदा सर्वत्र सर्गादौ तदा लब्धात्मसंस्थितिः ।
भवत्यात्मा तदाहात्र जगतां पतिरादरात् ॥

यतश्च करणशक्तिशब्दोक्त्या तुर्यात्मा स्वातन्त्र्यशक्तिरेव बोधरूपस्य प्रमातुः सारम्, अतो मायाशक्त्यपहस्तिततत्स्वरूपोत्तेजनाय—

त्रयाणां भावौन्मुख्यतदभिष्वङ्गतदन्तर्मुखीभावनामयानां सृष्टि-स्थितिलयशब्दोक्तानां पदानामवस्थानां, यद् आदि प्रधानं त्रिचमत्कृतित्वेन

प्रमातुर्बोधरूपस्य सारं, तस्मात्स्वमायया ।
तिरोहितायाः स्वातन्त्र्यशक्तेरुत्तेजनं प्रति ॥ १६१ ॥
त्रिपदं जागरास्वप्नसौषुप्तानामनुक्रमात् ।
प्रत्येकमादिमध्यान्तरूपं भंग्या निरूपितम् ॥ १६२ ॥

अवभासनं च विकल्पस्य प्रसङ्गात् निर्दिष्टम् । अत एव ब्रह्मादिकीटान्तस्य जीवनक्रिया-विष्टस्य प्राणिनः अवभासनरूपा ज्ञानशक्तिः, उल्लेखनरूपा च क्रियाशक्तिः स्वाभाविकी वर्तते । तत एव तस्यां प्रकल्पितप्रमातृभूमिकायामपि भिन्नेश्वरोपकल्पितप्राच्यसृष्टिमुप-जीवनसंभावनाऽपि नास्ति, अनेन प्रकारेण स्वयमेव ज्ञानक्रियारूपैकैश्वर्यस्यैव स्फुटं प्रत्य-भिज्ञेयं जानाति च करोति च । तथा चोक्तं स्पन्दकारिकायां—

'तस्याकृतिमो धर्मो ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणः ।
यतस्तदेप्सितं सर्वं जानाति च करोति च ॥ १० ॥

तुर्याख्यं पदं मायाशक्त्याच्छादितमपि तत्तद्विषयोपभोगाद्यवसरेषु विद्युद्वदाभासमानं, तेन अनुप्राणनमात्मन उत्तेजनं कुर्यात् ॥ ३८ ॥

त्रीणि जाग्रत्पदादीनि आदिभूतानि यस्य तत् ।
त्रिपदादि स्मृतं तुर्यं युगपत्पूर्णताभिधम् ॥
तेनानुप्राणनं सम्यग्भावानां स्वबलार्पणम् ॥ ३८ ॥

कथं कुर्यात्तदाहात्र सूत्रं हार्दतमोहरः ॥

आनन्दघनं तुर्याख्यं पदं मायाशक्त्याच्छादितमपि तत्तद्विषयोपभोगाद्यवसरेषु विद्युद्वदाभासमानं, तेन तत्तदवसरेषु क्षणमात्रोदितेनापि, अनुप्राणनम् अन्तर्मुखतद्विमर्शावस्थितितारतम्येन अनुगततया प्राणनम्, आत्मनस्तेनैव जीवितेनापि जीवितस्य उत्तेजनं कुर्यात् । तदुक्तं श्रीविज्ञानभैरवे——

**'अन्तः स्वानुभवानन्दा विकल्पोन्मुक्तगोचरा ।
यावस्था भरिताकारा भैरवी भैरवात्मनः ॥
तद्वपुस्तत्त्वतो ज्ञेयं विमलं विश्वपूरणम् ।'**

इत्याद्युपक्रम्य——

**'शक्तिसंगमसंक्षुब्धशक्त्यावेशावसानिकम् ।
यत्सुखं ब्रह्मतत्त्वस्य तत्सुखं स्वाक्यमुच्यते ॥**

भावोन्मुख्यतदासक्तितदेकीकरणात्मकम् ।
सृष्टिस्थितिलयाकारं तुर्येणैव तदादिना ॥ १६३ ॥
तत्त्रयान्तश्चमत्काररसानन्दघनात्मना ।
माययाच्छादितेनापि तिरोधानस्वरूपया ॥ १६४ ॥

उक्तप्रकारेण संभाव्यते, यदि प्रगाढाभिनिवेशेन परामर्शनं करोति, तदा अभिमतवस्तुनो निर्माणेऽपि समर्थो भवति । वस्तुतः परामर्शाधिक्यात् सर्वजनैरपि निर्मितिः द्रष्टुं शक्यते । नूतनस्वर्गसृष्टेः विश्वामित्रमुनिरकरोदिति श्रूयते पुराणग्रन्थे ।

'यदा तु तेऽपि सुव्यक्तस्वसामर्थ्यगुणोज्ज्वलाः ।
भवेद् दृढतराद्दूरदारिता दार्ढ्यदीनता ॥
तदा च तेषां संकल्पः कल्पपादपतां व्रजेत् ।'

लेहनामन्थनाकोटैः स्त्रीसुखस्य भरात्स्मृतेः ।
शक्त्यभावेऽपि देवेशि भवेदानन्दसंप्लवः ॥
आनन्दे महति प्राप्ते दृष्टे वा बान्धवे चिरात् ।
आनन्दमुद्गतं ध्यात्वा तन्मयस्तल्लयोभवेत् ॥
जग्धिपानकृतोल्लासरसानन्दविजृम्भणात् ।
भावयेद्भरितं भावं महानन्दमयो भवेत् ॥
गीतादिविषयास्वादासमसौख्यैकतात्मनः ।
योगिनस्तन्मयत्वेन मनोरूढेस्तदात्मता ॥'

इत्यादिना उपायप्रदर्शनेन प्रपञ्चितम् । एतच्च—

'अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वा मृशन् ।
धावन्वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः ॥'

इत्यादिना—

'..............................प्रबुद्धः स्यादनावृतः ॥'

इत्यन्तेन प्रदर्शितम् । एतत् स्पन्दनिर्णये निराकाङ्क्षं मयैव निर्णीतम् । 'त्रिषु चतुर्थम्...' (३–२०) इति सूत्रेण जागरादौ तुर्यानुप्राणनमुक्तम् । अनेन सर्वदशानुगतादिमध्यान्तेषु सृष्टिस्थितिसंहारनिरूपितया भङ्ग्या निरूपितेषु इति विशेषः ॥ ३८ ॥

तत्तद्विषयभोगेषु विद्युद्वत्स्फुरता क्षणम् ।
अनुप्राणनमादध्यादवधानेन साधकः ॥ १६५ ॥
तेनैव जीवितेनापि जीवितस्य निजात्मनः ।
सम्यगुत्तेजनं कुर्याद्येनासौ तन्मयो भवेत् ॥ १६६ ॥
तुर्यानुप्राणनं प्रोक्तं जागरादौ पुरा त्रिषु ।
चतुर्थमिति सूत्रेण, त्रिपदेत्यादिनामुना ॥ १६७ ॥
जागराद्यादिमध्यान्तपर्वस्विति विशिष्यते ॥ ३८ ॥

इति तत्त्वगर्भनीत्या यदा ते स्वज्ञानक्रियावन्तो योगिजनाः सुस्फुटं भवति, तदा तेषामभिमतवस्तुनिर्मितेरस्थिरता यथा, तथा अविलम्बमेव खण्डिता भवति । तेषां संकल्पस्तु कल्पवृक्ष इव सद्य एव फलप्रदायकः संजायते ॥ ३७ ॥

यस्मादेवं करणशक्तिपदप्रकथनेन चिदानन्दतुर्यात्मा बोधात्मनः प्रमातुः सारमस्ति, तस्मात् स्वमायाशक्तितिरोहिततत्स्वरूपोत्तेजनार्थमाह—'त्रिपदाद्यनुप्राणनम् ।' अत एव अयं योगिजनो दृढभावनावशात् स्वप्नसङ्कल्पेन तुल्यं सृजनात्मककार्यं संपादयति । अनेन

चित्तस्थितिवच्छरीरकरणबाह्येषु ॥ ३९ ॥

अन्तर्मुखायां चित्तस्थितौ इव शरीरकरणबाह्याभासात्मिकायां बहिर्मुखतायामपि तेन तुर्येणानुप्राणनं कुर्यात् ॥ ३९ ॥

चित्तस्योक्तस्वरूपस्य स्थितिर्निश्चलतैव या ।
अप्रच्युतिः स्वस्वरूपादिति तद्वच्छरीरके ॥

एतच्च त्रिपदाद्यनुप्राणनमन्तर्मुखत्वावष्टम्भत्वदशायामेवासाद्य न संतुष्येत्, अपि तु—

'त्रिपदाद्यनुप्राणनम्' इत्येव । यथा अन्तर्मुखरूपायां चित्तस्थितौ तुर्येणानुप्राणनं कुर्यात्, तथा शरीरकरणबाह्याभासात्मिकायां बहिर्मुखतायामपि आन्तरविमर्शावष्टम्भबलात् क्रमात्क्रमं तारतम्यभाजा तेन अनुप्राणनं कुर्यात् । यदुक्तं श्रीविज्ञानभैरवे—

अन्तर्मुखस्वरूपायामवस्थायां न केवलम् ॥ १६८ ॥
त्रिपदादिप्राणनमित्येतदुक्तमथापितु ।
अनुप्राणनमित्येतदादद्यादिति शिष्यते ॥ १६९ ॥
अन्तर्मुखस्वरूपायां यथा चित्तस्थितौ तथा ।
अनुप्राणनमुक्तेन तुर्येणानन्दरूपिणा ॥ १७० ॥

स्वतन्त्रकरणसामर्थ्येन जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यम् अवस्थात्रयं धारणं कृत्वा अनुप्राणिति । यद्यपि चमत्काररसचिदानन्दघनरूपतुर्याख्यं पदं मायाशक्त्या आच्छादितमस्ति तथापि तत्तद्विषयोपभोगाद्यवसरेषु विद्युदिव आभासमानं भवति, तेन अनुप्राणनं स्वात्मनः सम्यग्रूपेण उत्तेजनं कुर्यात् ॥ ३८ ॥

अत एव महायोगनिष्ठपुरुषः त्रिपदाद्यनुप्राणनेन अन्तर्मुखत्वावरोधदशायामेव न केवलं सन्तुष्टो भवेत्, किन्तु—'चित्तस्थितिवच्छरीरकरणबाह्येषु ।' यथा इयं स्वातन्त्र्यशक्तिरन्तर्मुखस्वरूपायां चित्तस्थितौ तुर्यचमत्कारानन्दरूपिणा अनुप्राणनं कुर्यात्, तथा शरीरेन्द्रियविषयात्मनि बहिर्मुखत्वेऽपि आन्तरपरामर्शावष्टम्भतः स्थावरजङ्गमात्मकं सर्वं विश्वमपि तन्मयीभवति । यथोक्तं विज्ञानभैरवे—

'सर्वं जगत् स्वदेहो वा स्वानन्दभरितं भवेत् ।
युगपत् स्वामृतेनैव परानन्दमयो भवेत् ॥' ६३ ॥

यथास्वं कल्पिते चात्र सबाह्याभ्यन्तरे स्थिते ।
करणग्राम एवालं स्थितिर्या प्राणनं हि तत् ॥
एवं बाह्येषु भावेषु येषु येषु प्रकल्पनम् ।
कुरुते तेषु तेष्वेव प्रथनं स्यात्तथैव तत् ॥ ३९ ॥

एवमन्तःस्थितस्थैव भवेद्बाह्यविसर्पणम् ।
भावव्रातस्य कस्मात्तत्प्रोवाच गिरिजाधवः ॥

कुर्याद्बहिर्मुखत्वेऽपि देहाक्षविषयात्मनि ।
तन्मयं भवतीत्यर्थात्तदा सर्वं चराचरम् ॥ १७१ ॥
एवं स्वानन्दरूपास्य शक्तिः स्वातन्त्र्यलक्षणा ।
यथेष्टभावनिर्माणकारिणी भवति स्फुटम् ॥ १७२ ॥ ३९ ॥

यदा पुनरसौ योगी प्रोक्तां तुर्यात्मिकां दशाम् ।
आन्तरीं नामृशत्यन्तस्तदा देहाद्यहंकृतेः ॥ १७३ ॥

'सर्वं जगत्स्वदेहं वा स्वानन्दभरितं स्मरेत् ।
युगपत्स्वामृतेनैव परनन्दमयो भवेत् ॥'

इति । एवं हि आनन्दात्मा स्वातन्त्र्यशक्तिः सर्वदशासु स्फुटीभूता सती यथेष्टनिर्माणकारिणी भवति ॥ ३९ ॥

यदा तु अयमेव आन्तरीं तुर्यदशाम् आत्मत्वेन न विमृशति, तदा देहादिप्रमातृताभावाद् अपूर्णमन्यतात्मकाणवमलरूपात्—

सर्वं नामरूपात्मकं विश्वं स्वशरीरं वा स्वकीयेन चिदानन्दरसेन परिपूर्णम् आप्लावितं भवतीति चिन्तयेत् सततम् । अनयैव भावनया भावको युगपदेव सच्चिदानन्दचमत्काररसेन परमानन्दस्वरूप. संजायते ।

अत एव सर्वस्मिन् बहिर्देशे अभीष्टे वस्तुजाते चिदानन्दघनतुर्यचमत्काररसामृतकणिकाच्छुरिततया पूर्णाहन्तापरमेश्वररूपताभावनया भावितस्य योगिनरनुत्तरपरमशिवधाम्नि स्थितिर्भवति । यस्मादेवं स्वात्मानन्दरूपा परमस्वातन्त्र्यशक्तिः जागत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यासु अवस्थासु अस्य योगिनो यथेष्टभावनिर्माणकारिणी स्फुटा भवति ॥ ३९ ॥

अभिलाषाद्बहिर्गतिः संबाह्यस्य ॥ ४० ॥

संबाह्यते योनेर्योन्यन्तरं नीयते इति संबाह्यः कर्मात्मरूपः पशुः, तस्य अभिलाषात् अपूर्णंमन्यतात्मकाविद्याख्यानात् मलरूपात्

आत्मनः स्वबलोद्रेकात्क्रियावेशप्रपूरणे ।
यैवेच्छा सोऽभिलाषः स्यात्तस्मादस्य भवत्यलम् ॥
करणादिसमूहस्य संबाह्यस्य बहिर्गतिः ।
सव्यापारप्रवृत्तिः सा प्रेर्यस्यात्मबलेरणात् ॥

शक्तिचक्राधिष्ठितैः कञ्चुकान्तःकरणबहिष्करणतन्मात्रभूतैः सह, संवाह्यते योनेर्योन्यन्तरं नीयते इति संवाह्यः, कर्मात्मरूपः पशुः तस्य--

'.....................अभिलाषो मलोऽत्र तु ।'

इति श्रीस्वच्छन्दोक्तनीत्या अपूर्णंमन्यतात्मकाविद्याख्याणवमलरूपाद् अभिलाषाद्धेतोर्बहिर्गतिः, विषयोन्मुखत्वमेव भवति; न तु अन्तर्मुखस्वरूपावहितत्वं जातुचित् । यदुक्तं कालिकाक्रमे--

'यदविद्यावृततया विकल्पविधियोगतः ।
शिवादीन्नैव झटिति समुद्भावयतेखिलान् ॥

अपूर्णम्मन्यतारूपादस्याणवमलात्मनः ।
तत्त्वैः शक्तिगणक्रान्तैर्धरण्यन्तैः कलादिभिः ॥ १७४ ॥

यदा तु योगनिष्ठमहापुरुष आन्तरीम् अनुत्तररूपतुर्यात्मिकां शिवदशां आत्मस्वरूपत्वेन नैव विभावयति, तदा देहादिप्रमातृत्वभावेन न्यूनतामन्यतात्मकाद् आणवमलाद् बहिर्गच्छतीति दर्शयति— 'अभिलाषाद्बहिर्गतिः संवाह्यस्य ।' पृथिव्यन्तकलासहितैः शक्तिचक्राक्रान्तैः तत्त्वैः योनेर्योन्यन्तरं प्रासव्यः संवाह्यः कर्मात्मरूपः पशुः कथ्यते, तस्य पशोः तत्तत्कर्मानुसारिणः अभिलाषात् अपूर्णंमन्यतारूपात् आणवमलाकाराद्बहिर्गतिर्भवति विषयोन्मुखत्वरूपा एव हेतुरस्य न तु अन्तस्तत्त्वानुसंहितिः । अयमाशयः—यदि साधकजनः चमत्काररूपतुर्यात्मिकादशातः शरीरेन्द्रियादिषु क्षणभङ्गुरवस्तुषु प्रच्युतो भवति तेषु तादात्म्यमिथ्याध्यासेन अहंममात्मकाभिमानं करोति तदा अपूर्णंमन्यतारूपया अनया अभिलषया जन्मजन्मान्तरेषु भ्रमणशीलस्य कर्मात्मनः पशोः केवला बहिर्गतिरेव भवति । यथोक्तं पञ्चदशीकारैः विद्यारण्यपादैः—

हेतोः बहिर्गतिर्विषयोन्मुखत्वमेव भवति, न तु अन्तर्मुखस्वरूपावहितत्वं जातुचित् ॥ ४० ॥

अथाभिलषितव्यं यत्संवाह्यं तदुदाहृतम् ।
काकाक्षिन्यायतस्तूक्तं पशोरेव पशोः पुनः ॥
सर्गे सत्यभिलाषो यः स सर्वविषयेष्वलम् ।
तस्मात्कर्मात्मनः प्रोक्ता संवाह्यस्य बहिर्गतिः ॥
स्वस्वरूपपरित्यागो बाह्यो वैषयिकव्रजः ।
गतिः प्रसरणं तत्र संवाह्यस्य भवत्यतः ॥
विषयादिभिरेवासौ सदा संवाह्यते यदा ।
तदा दुरभिलाषाख्यो मोह एवास्य जृम्भते ॥ ४० ॥

ततः शुभाशुभा भावा लक्ष्यन्ते तद्वशत्वतः ।
अशुभेभ्यश्च भावेभ्यः परं दुःखं प्रजायते ॥
अतथ्यां कल्पनां कृत्वा पच्यन्ते नरकादिषु ।
स्वोत्थैर्दोषैश्च दह्यन्ते वेणवो वह्निना यथा ॥
मायामयैः सदा भावैरविद्यां परिभुञ्जते ।
मायामयीं तनुं यान्ति ते जनाः क्लेशभाजनम् ॥'

इति ॥ ४० ॥

योनेर्योन्यन्तरं नेयः संवाह्यः पशुरुच्यते ।
तस्याणवमलाकारात तत्तत्कर्मानुसारिणः ॥ १७५ ॥
अपूर्णम्मन्यतारूपादभिलाषाद्बहिर्गतिः ।
विषयोन्मुखतैवास्य नान्तस्तत्त्वानुसंहितिः ॥ १७६ ॥ ४० ॥

'कुर्वते कर्म भोगाय कर्म कर्तुं च भुञ्जते ।
नद्या कीटा इवावर्तादावर्तान्तरमाशु ते ।
व्रजन्तो जन्मनो जन्म लभन्ते नैव निर्वृत्तिम् ॥ ३० ॥

किन्तु तन्निवृत्युपायामाह—

सत्कर्मपरिपाकात्ते करुणानिधिनोद्धृताः ।
प्राप्य तीरतरुच्छायां विश्राम्यन्ति यथासुखम् ॥ ३१ ॥

तदारूढप्रमितेस्तत्क्षयाज्जीवसंक्षयः ॥ ४१ ॥

तस्मिन् तुर्यपदे आरूढा तद्विमर्शपरा प्रमितिः संवित् यस्य योगिनः, तस्य अभिलाषक्षयात् जीवस्य संबाह्यात्मनः पुर्यष्टकप्रमातृ-

जीवसंज्ञश्च कर्मात्मा सति दुष्टे तदेषणे ।
तत्क्षयादात्मनः किं स्यादथोवाच महेश्वरः ॥
अभिलाषोद्‌गतौ पूर्वा कोटिर्द्रष्टृधरा स्मृता ।
तदा तस्मिन्नावसति प्रबुद्धः परमार्थवित् ॥

यदा तु पारमेशशक्तिपातवशोन्मिषितं स्वं स्वभावमेव विमृशति, तदा अभिलाषाभावाद् न अस्य बहिर्गतिः, अपि तु आत्मारामतैव नित्यमित्याह––

तदिति पूर्वनिर्दिष्टसंवेत्त्रात्मनि तुर्यपदे, आरूढा तद्विमर्शनपरा, प्रमितिः संवित् यस्य योगिनस्तस्य । तदिति अभिलाधक्षयात्, जीवस्य संवाह्यात्मनः पुर्यष्टकप्रमातृभावस्य, क्षयः प्रशमः; चित्प्रमातृतयैव स्फुरति इत्यर्थः । यदुक्तं तत्रैव––

यदा पुनर्महेशानशक्तिपातवशोन्मिषत् ।
आत्मीयमेव विमृशन्नास्ते रूपं, तदास्य तु ॥ १७७ ॥
अभावादभिलाषस्य न बहिर्गतिरापतेत् ।
अपितूक्तचरस्वात्मारामतैवेति कथ्यते ॥ १७८ ॥

उपदेशमवाप्यैवमाचार्यात्तत्त्वदर्शिनः ।
पञ्चकोशविवेकेन लभन्ते निर्वृतिं पराम् ॥ ३२ ॥

योगिजनाः तत्त्वविवेकेन परां निर्वृत्तिं मोक्षधर्मं प्राप्नुवन्ति । एवं च सर्वथा कर्मत्वरूपपाशैर्विनिमुक्ताः भवन्ति, तदभावे पाशेषु बध्यन्ते संवाह्याश्च जायन्ते ॥ ४० ॥

यदा पुनरसौ योगिपुरुषो महेशानशक्तिपातवशोन्मिषितमात्मीयमेव रूपं परामृशति, तदा अस्य तु अभिलाषस्य अभावान्नैव बहिर्गतिरापतेत्, अपि तु स्वात्मरामतैव इत्याह— 'तदारूढप्रमितेस्तत्क्षयाज्जीवसंक्षयः ।'

पूर्वोक्तचिदानन्दचमत्काररसामृततुर्यातीतपदे संवित्प्रकाशपरामर्शे विश्वोत्तीर्ण-निजाहन्तासमावेशितचेतसो सुप्रबुद्धयोगिपुरुषस्य अपूर्णंमन्यतात्मकाणवमलरूपाभिलाष-

भावस्य, संक्षयः प्रशमः संजायते चिन्मात्रमयतयैव स्फुरति स इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

यदा द्रष्टृधराक्रामी स्वबलोद्योगवीर्यतः ।
तदासौ रूढविज्ञानः प्रमाता बुद्ध उच्यते ॥
प्रमातुः प्रमितिस्तस्य स्वसंविज्ज्ञानमेव यत् ।
तदाप्यारूढप्रमितेरभिलाषक्षयो भवेत् ।
तत्क्षयाज्जीवसंज्ञस्य क्षयः कर्मात्मनः स्मृतः ॥ ४१ ॥

'यथा स्वप्नानुभूतार्थान्प्रबुद्धो नैव पश्यति ।
तथा भावनया योगी संसारं नैव पश्यति ॥'

इति । तथा—

'निरस्य सदसद्वृत्तीः संश्रित्य पदमान्तरम् ।
विहाय कल्पनाजालमद्वैतेन परापरम् ॥
यः स्वात्मनिरतो नित्यं कालग्रासैकतत्परः ।
कैवल्यपदभाग्योगी स निर्वाणपदं लभेत् ॥'

इति । कैवल्यपदभागिनि इन्द्रियतन्मात्राभिरसंवाह्यः ॥ ४१ ॥

तदित्युक्तचरे धाम्नि संवेत्तृत्वस्वरूपिणि ।
आरूढा प्रमितिः संवित् तद्विमर्शनतत्परा ॥ १७९ ॥
यस्य तस्यास्य तदिति प्रोक्ताणवमलात्मनः ।
अभिलाषस्य रूढस्य क्षयाज्जीवस्य संक्षयः ॥ १८० ॥
पुर्यष्टकस्वभावस्य प्रशमस्तत्त्वतो भवेत् ॥ ४१ ॥

क्षयात् जीवत्वभावना संवाह्यरूपकर्मात्मता पुर्यष्टकप्रमातृता अपि नास्य केवलं प्रशाम्यति, किन्तु स सदा चिन्मात्ररूपेणैव स्फुरति । तथा चोक्तं—

'यथा स्वप्नानुभूतार्थान् प्रबुद्धो नैव पश्यति ।
तथा भावनया योगी संसारं नैव पश्यति ॥'

यथा स्वप्नदशायां अतीवस्वल्पांशे चित्रविचित्रतया अनुभूयमानानि गिरिगुहासरित्सागरोपनपुरादीनि वस्तुनि परमार्थतोऽसन्त्यपि तत्तदाभासान् प्रबुद्धः प्राणी चिदात्मनः स्वातन्त्र्यविलसितानि अभिमन्यते तथैव जाग्रत्काले स्वातन्त्र्योद्भासितं चिद्रूपतया

भूतकञ्चुकी तदा विमुक्तो भूयः पतिसमः परः ॥४२॥

तदा–इति अभिलाषक्षयात् जीवसंक्षये पुर्यष्टकप्रमातृताभिमान-विगलने सति, अयं भूतकञ्चुकी शरीरारम्भीणि भूतानि कञ्चुकं

जीवसंज्ञः स्मृतो बध्यः संसारी पशुरित्यतः ॥
पाशराशिक्षतौ सत्यां कीदृगात्मा तदाह च ।

नन्वेवं जीवसंक्षये सति अस्य देहपातः प्राप्तः, न च असौ सुप्रबुद्धस्यापि देहिनः सद्य एव दृश्यते, तत्कथमयं तदारूढप्रमितिः ? इत्याशङ्क्याह--

तदेति अभिलाषक्षयात्, जीवसंक्षये पुर्यष्टकप्रमातृताभिमानविगलने सति, अयं भूतकञ्चुको, शरीरारम्भीणि भूतानि कञ्चुकमिव व्यतिरिक्तं

प्राप्नोति देहपातोऽस्य नन्वेवं जीवसंक्षये ॥ १८१ ॥
नासौ कदापि कस्यापि दृश्यतेऽत्रापि योगिनः ।
तस्मात्कथं तदारूढप्रमितिः साधको भवेत् ॥ १८२ ॥
इत्याशंक्योत्तरं वक्ति भगवान्विश्वदैशिकः ।
तदेत्युक्ताभिलाषस्य प्रशमाज्जीवसंक्षये ॥ १८३ ॥

अनवभासनात् चिदभिन्नं शिवमयमेव विश्वं भावनापरिनिष्पत्त्या पर्यालोचनतो साधक-पुरुषस्य संसारदृष्टिविलोपो भवति । संविच्छक्तिस्तु विश्ववैचित्र्यावभासनेच्छया ग्राहक-रूपतां समाश्रित्य ग्राह्यरूपेण स्फुरति । इत्थं संवित्स्फुरणस्यैव विपरीतभावनया संसारदृष्टिः, अवैपरीत्येन भावनाधिक्यात् तद्विनष्टौ पुनश्च स्वात्मैश्वर्यचमत्कारः संजायते । तथा चोक्तं—

'निरस्य सदसद्वृत्तीः संश्रित्य पदमान्तरम् ।
विहाय कल्पनाजालमद्वैतेन परापरम् ॥
यः स्वात्मनिरतो नित्यं कालग्रासैकतत्परः ।
कैवल्यपदभाग्योगी स निर्वाणपदं लभते ॥'

इत्यादिना प्रतिपादितं भवति ॥ ४१ ॥

ननु जीवत्वभावे विनष्टे सति देहपातोऽस्य योगिनो भवति, नासौ कदापि कस्यापि दृश्यते । तस्मात्कथमयं तुर्यारूढप्रमितिः भवेदित्याशङ्क्याह—'भूतकञ्चुकी

व्यतिरिक्तं प्रावरणमिव न तु अहन्तापदस्पर्शीनि यस्य, तथाभूतः सन् विमुक्तो निर्वाणभाक्, यतो भूयो बाहुल्येन पतिसमः चिद्घन-पारमेश्वरस्वरूपाविष्टः, तत एव परः पूर्णः। शरीरवृत्तिर्व्रतम् (३-२६) इति उक्तसूत्रनीत्या दलकल्पे देहादौ स्थितोऽपि न प्रमातृता-संस्कारेण स्पृष्टः ॥ ४२ ॥

महाभूतानि पञ्चैव पाशरूपाणि कञ्चुकम्।
कञ्चुकं चावृतिर्ज्ञेया तदासौ भूतकञ्चुकी ॥

प्रावरणमिव, न तु अहन्तापदस्पर्शीनि यस्य, तथाभूतः सन् विमुक्तो निर्वाणभाक्; यतो भूयो बाहुल्येन पतिसमः चिद्घनपारमेश्वरस्वरूपाविष्टः, तत एव परः पूर्णः, 'शरीरवृत्तिर्व्रतम्' (३-२६) इत्युक्तसूत्रार्थनीत्या दल-कल्पे देहादौ स्थितोऽपि, न तत्प्रमातृतासंस्कारेणापि स्पृष्टः। तदुक्तं श्री-कुलरत्नमालायां--

'यदा गुरुवरः सम्यक् कथयेत्तन्न संशयः।
मुक्तस्तेनैव कालेन यन्त्रस्तिष्ठति केवलम् ॥
किं पुनश्चैकतानस्तु परे ब्रह्मणि यः सुधीः।
क्षणमात्रस्थितो योगी स मुक्तो मोचयेत्प्रजाः ॥'

पुर्यष्टकप्रमातृत्वाभिमानगलनेऽप्यसौ।
देहारम्भकरैर्भूतैरस्पृशद्भिरहंपदम् ॥ १८४ ॥
कंचुकीव विशेषेण मुक्तो निर्वाणभाग्यतः।
भूयो बाहुल्यतः पत्या समोऽयं परमेशिना ॥ १८५ ॥

तदा विमुक्तो भूयः पतिसमः परः।' तदेत्युक्ताभिलाषप्रशमनेन विनष्टे प्राणे पुर्यष्टकप्रमातृ-मात्राहित्ये सति, अयं भूतकञ्चुकी देहारम्भकाणि पञ्चमहाभूतानि आवरकवस्त्रमिव भिन्नं भवति, न तु अहन्तापदस्पर्शकानि। यतो हि प्रकल्पितपशुजन इव परिमिताहंभाव-निवृत्तौ सत्यां विमुक्तनिर्वाणभाक् संजायते, येन योगी पशुपतिना समो सच्चिदानन्द-घनपारमेश्वरस्वरूपाविष्टो भवति। तत एव परिपूर्णः सम्यक् तन्मयतां गतः। यथा मुक्तायां त्वचि मणिधरस्य अहन्ताभिमानं नैव भवति एवं च शिवपरामर्शाभ्यसनेन देहादौ भिन्नतया परामृष्टेऽपि न प्रमातृताऽभिमानः संजायते। किं वा खड्गपिधानं

नैसर्गिकः प्राणसंबन्धः ॥ ४३ ॥

निसर्गात् स्वातन्त्र्यात्मनः स्वभावादायातो नैसर्गिकः प्राण-संबन्धः, संवित् किल भगवती विश्ववैचित्र्यमवबिभासयिषुः, संकोचा-

अविमुक्तो बद्ध एव भूयः पूर्वोक्तरीतितः ।
सर्वज्ञसर्वकृद्भूमिरूढ्या पतिसमः परः ॥
स्यादसौ नात्र संदेहः सम्यक् स्वानुभवादलम् ॥ ४२ ॥

भूतकञ्चुकिनश्चास्य संबन्धः प्राणसंज्ञकः ॥

इति । श्रीमृत्युजित्यपि--
'निमेषोन्मेषमात्रं तु तत्त्वं यद्युपलभ्यते ।
तदैव किल मुक्तोऽसौ न पुनर्जन्म चाप्नुयात् ॥'
इति । कुलसारेऽपि--
'अहो तत्त्वस्य माहात्म्यं ज्ञातमात्रस्य सुन्दरि ।
श्रोत्रान्तरं तु संप्राप्ते तत्क्षणादेव मुच्यते ॥'
इति ॥ ४२ ॥

ननु भूतकञ्चुकित्वमपि अस्य कस्मात् तदैव न निवर्तते ! इत्याह—
निसर्गात् स्वातन्त्र्यात्मनः स्वभावात् आयातो नैसर्गिकः, प्राण-

तत्स्वरूपसमाविष्टचिदानन्दघनात्मकः ।
तत एव परः पूर्णः सम्यक्तन्मयतां गतः ॥ १८६ ॥ ४२ ॥

भूतकंचुकिताप्यस्य तदैव न निवर्तते ।
कस्मादित्यपि शंकायामुत्तरं वक्ति शंकरः ॥ १८७ ॥

यथा खड्गाद् व्यतिरिक्तं, तथा व्यतिरिक्ते शरीरादौ तद्गतप्रमातृभावेन न अयं श्लिष्यते ॥ ४२ ॥

ननु भूतकञ्चुकितापि अस्य तुर्यपदारूढस्य कथं न निवर्तते ? इत्याशङ्कयाह—
'नैसर्गिकः प्राणसम्बन्धः ।' निसर्गः सहजस्वभावः स्वस्य स्वातन्त्र्यात्मनस्तस्मादागतो

वभासपूर्वकं संकुचदशेषविश्वस्फुरत्तात्मकप्राणनारूपग्राहकभूमिकां श्रित्वा, ग्राह्यरूपजगदाभासात्मना स्फुरति,—इति नैसर्गिकः स्वातन्त्र्यात् प्रथममुद्भासितः अस्याः प्राणसंबन्धः ॥ ४३ ॥

स कथं प्राह भगवानत्र सूत्रं वृषाकपिः ।
स च भूतशरीरस्य प्राणसंबन्ध एव यः ।
निसर्गसिद्धोऽसौ ज्ञेयः प्राणः प्राणमयो यतः ॥ ४३ ॥

संबन्धः, संवित् किल भगवती विश्ववैचित्र्यम् अवबिभासयिषुः संकोचावभासपूर्वकं संकुचदशेषविश्वस्फुरत्तात्मकप्राणनारूपग्राहकभूमिकां श्रित्वा ग्राह्यरूपजगदाभासात्मना स्फुरतीति नैसर्गिकः, स्वातन्त्र्यात् प्रथममुद्भासितोऽस्याः प्राणसंबन्धः । तथा च श्रीवाजसनेयायाम्—

'या सा शक्तिः परा सूक्ष्मा व्यापिनी निर्मला शिवा ।
शक्तिचक्रस्य जननी परानन्दामृतात्मिका ॥
महाघोरेश्वरी चण्डा सृष्टिसंहारकारिका ।
त्रिवहं त्रिविधं त्रिस्थं बलात्कालं प्रकर्षति ॥'

प्राणे परिणता संवित् प्रागिति प्रोक्तया दिशा ।
निसर्गात्सहजात्स्वस्य स्वातन्त्र्यादनिवारितात् ॥ १८८ ॥
चञ्चत्प्रपञ्चवैचित्र्यप्रकर्षकरणेच्छया ।
संकोचं परिगृह्णाना संविद्भगवती स्वयम् ॥ १८९ ॥
प्राप्नोति संकुचत्तत्तत्प्राणग्राहकभूमिकाः ।
उक्तमर्थं दृढीकर्तुं संवादः सोऽयमत्र तु ॥ १९० ॥

नैसर्गिकः तस्य श्वासप्रश्वासरूपप्राणस्य स्वाभाविकसम्बन्धोऽस्ति । भगवती संवित् प्रपञ्चवैचित्र्यप्रकर्षकरणेच्छया संकोचं परिगृह्णन्ती संकुचदशेषविश्वस्फुरत्तात्मकप्राणनारूपग्राहकभूमिकां समाश्रित्य ग्राह्यरूपजगदाभासात्मना स्फुरति, इति स्वाभाविकः स्वातन्त्र्यवशात् प्रथममुद्भासितोऽस्य प्राणसम्बन्धः । यथोक्तं—

'या सा शक्तिः परा सूक्ष्मा व्यापिनी निर्मला शिवा ।
शक्तिचक्रस्य जननी परानन्दामृतात्मिका ॥
महाघोरेश्वरी चण्डा सृष्टिसंहारकारिका ।
त्रिवहं त्रिविधं त्रिष्ठं बलात्कालं प्रकर्षति ॥'

इति संविद एव भगवत्याः प्राणक्रमेण नाडित्रयवाहिसोमसूर्यवह्न्यात्मावस्थितातीतानागतवर्तमानरूपबाह्यकालोल्लासनविलापनकारित्वमुक्तम् । तदुक्तं स्वच्छन्देऽपि--

'प्राणः प्राणमयः प्राणो विसर्गापूरणं प्रति ।
नित्यमापूरयत्येष प्राणिनामुरसि स्थितः ॥'

इति । प्राणस्य--

'हकारस्तु स्मृतः प्राणः सुप्रवृत्तो हलाकृतिः ।'

इत्युक्तनीत्या श्रीस्वच्छन्दभट्टारकरूपप्राणमयत्वात् विसर्गापूरतया सृष्टिसंहारकारित्वमभिहितम् इति युक्तमुक्तम् 'नैसर्गिकः प्राणसंबन्धः' इति । अत एव श्रीभट्टकल्लटेन प्राणाख्यनिमित्तदार्ढ्यम्--

'प्राक् संवित् प्राणे परिणता ।'

इति तत्त्वार्थचिन्तामणावुक्तम् ॥ ४३ ॥

'या सा शक्तिः परा सूक्ष्मा व्यापिनी निर्मला शिवा ।
शक्तिचक्रस्य जननी परानन्दामृतात्मिका ॥ १६१ ॥
महाघोरेश्वरी चंडा सृष्टिसंहारकारिका ।
त्रिवहं त्रिविधं त्रिष्ठं बलात्कालं प्रकर्षति ॥' १६२ ॥
इति वाजसनेयायामियमेव चितिः परा ।
स्वातन्त्र्येणावरुह्य प्राक् प्राणरूपे प्रमातरि ॥ १६३ ॥
चन्द्रभास्करवह्न्यात्मनाडीत्रितयवाहिनम् ।
अन्तर्बहिर्विशन्निर्यन्निश्वासोच्छ्वासलक्षणम् ॥ १६४ ॥
अतीतवर्तमानादित्रिविधं कालमात्मनि ।
कर्षन्तान्तर्बहिश्चेति कथ्यते कालकर्षिणी ॥ १६५ ॥
ततो नैसर्गिकस्तस्याः प्राणसंबन्ध आगतः ॥ ४३ ॥

स्थितेऽपि प्राणसंबन्धे यस्तदारूढ आन्तरीम् ॥ १६६ ॥

इति वाजसनेयसरणिमनुसृत्य भगवत्याः चित्या एव प्राणक्रमेण नाडित्रयवाहिचन्द्रभास्करवह्न्यात्मावस्थितातीतानागतवर्तमानरूपा बाह्यकालोल्लासनविलापनकारित्वमुक्तम् । तस्मात् 'प्राक् संवित् प्राणे परिणता ।' इत्यादिना श्रीभट्टकल्लटेन तत्त्वार्थचिन्तामणौ सम्यग्रूपेण प्रतिपादितमस्ति ॥ ४३ ॥

नासिकान्तर्मध्यसंयमात् किमत्र सव्यासव्य-सौषुम्नेषु ॥ ४४ ॥

सर्वनाडीचक्रप्रधानरूपेषु सव्यापसव्यसौषुम्नेषु दक्षिण-वाम-मध्यनाडीपदेषु या, नासिका, नसते कोटिल्येन वहति इति कृत्वा

बिन्दुनादात्मकस्यास्य मार्गत्रयविसर्पिणः ।
जयः कार्यो न वा कार्यः स्वसिद्धयै प्राह चात्र तत् ॥
नासान्तर्द्वादशान्तः स्यात्तत्र संन्यस्तचेतसाम् ।
नियमात्तज्जयः सिद्धस्ततः स्वात्मस्थितिः स्फुटम् ॥
मध्यं हृदयमेवात्र तत्र प्राणनिरासतः ।
चेतसो लीनवृत्तित्वाद्ध्रुवत्यात्मोदयः परः ॥

अतश्च स्थितेऽपि नैसर्गिके प्राणसंबन्धे यस्तदारूढ आन्तरीं कलां विमृशन्नास्ते स लोकोत्तर एव इत्याह——

सर्वनाडीचक्रप्रधानरूपेषु सव्यापसव्यसोषुम्नेषु दक्षिणवाममध्यनाडोपदेषु, या नासिका, नसते कौटिल्येन वहति इति कृत्वा, कुटिलवाहिनी प्राणशक्तिः, तस्याः अन्तरिति आन्तरी संवित्, तस्याः अपि मध्यं सर्वान्तरतमतया प्रधानम् ।

संविदं विमृशन्नास्ते स लोकोत्तरतां ब्रजेत् ।
इत्युपायोपसंहारमुखेनाह महेश्वरः ॥ १९७ ॥
नेत्रादिरोमरन्ध्रान्तनाडीनां निविडात्मनाम् ।
सर्वासां मुख्यभूतेषु सर्वाष्टम्भदायिषु ॥ १९८ ॥
सव्यापसव्यसौषुम्मनाडीमार्गेषु सर्वदा ।
नाडीनां नासिका प्राणशक्तिः कुटिलवाहिनी ॥ १९९ ॥

यस्मादेवं नैसर्गिके प्राणसम्बन्धे स्थितेऽपि यः प्राणनारूपग्राहकभूमिकां समाश्रित्य आन्तरीं संविदं परामृशन्नास्ते, स लोकोत्तरतां प्राप्नोतीति निर्दिशति—'नासिकान्तर्मध्यसंयमात् किमत्र सव्यापसव्यसौषुम्नेषु ।' समग्रनाडीसमूहात्मकसव्यापसव्यसुषुम्नाद्याः

कुटलवाहिनो प्राणशक्तिः, तस्या अन्तरिति आन्तरी संवित्, तस्या अपि मध्यं सर्वान्तरतमतया प्रधानं यद्विमर्शमयं रूपं तत्संयमादन्तर्निभालनप्रकर्षात् किमत्रोच्यते । अयं हि सर्वदशासु देदीप्यमानो निर्व्युत्थानः परः समाधि ॥ ४४ ॥

एवं प्राणजये सिद्धे स्यात्किमत्र प्रयोजनम् ।
वामदक्षिणसौषुम्नमार्गेषु प्राणवाहिषु ॥
यस्मात्प्राणः प्राणसमः समर्थः सर्वसिद्धिदः ।
श्रीमत्स्वच्छन्दतन्त्रान्तर्गीतमेतच्छिवेन तु ॥

'तस्य देवातिदेवस्य परबोधस्वरूपिणः ।
विमर्शः परमा शक्तिः सर्वज्ञा ज्ञानशालिनी ॥'

इति श्रीकालिकाक्रमोक्तनीत्या यत् विमर्शमयं रूपं तत्संयमात् अन्तर्निभालनप्रकर्षात्; किमत्र उच्यते, अयं हि सर्वदशासु देदीप्यमानो निर्व्युत्थानः परः समाधिः । तदुक्तं श्रीविज्ञानभैरवे—

'ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम् ।
योगिनां तु विशेषोऽयं संबन्धे सावधानता ॥'

इति ॥ ४४ ॥

अन्तरित्यान्तरी संवित् तत्स्वरूपस्य यत्पुनः ।
मध्यं सर्वान्तरत्वेन प्रधानं विश्वभित्तिकम् ॥ २०० ॥
परामर्शमयं रूपमुत्तीर्णं तस्य संयमात् ।
निभालनप्रकर्षोत्थात् स्वात्मबुद्धिविमर्शनात् ॥ २०१ ॥

दक्षिणवाममध्यनाड्यः तत्र या कौटिल्येन वहतीति नासिका कुटिलवाहिनी प्राणशक्तिरूपा तस्यां मध्ये या आन्तरी संवित् मपि तन्मध्येऽपि सर्वान्तरतमतया प्रधानं विश्वभित्तिकं यत्परामर्शमयं स्वरूपं तत्संयमात् निभालप्रकर्षोत्थानात् स्वस्वरूपबुद्धिपरामर्शात् किमत्र संयमे वाच्यम् इयमेव देदीप्यमाना समाहितिरस्ति । यतो हि योगिना सर्वासु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याद्यवस्थासु व्युत्थानरहितेन अवधानेन इयं परा समाहितिरनुभूयते अन्तर्निरन्तरम् । यथोक्तं श्रीविज्ञानभैरवे—

भूयः स्यात्प्रतिमीलनम् ॥ ४५ ॥

चैतन्यात्मनः स्वरूपादुदितस्य अस्य विश्वस्य, भूयः पुनः, विगलितभेदसंस्कारात्मना बाहुल्येन च प्रतिमीलनं चैतन्याभिमुख्येन

प्राणः प्राणमयः प्राणो विसर्गापूरणं प्रति ।
प्राणनाडीजयश्चैव सानुषङ्गिक ईरितः ॥
यस्माच्छिवमयः शुद्ध आत्मा स्वच्छन्द इत्यतः ॥ ४४ ॥

एवमस्मिन्प्रकरणत्रयेऽथ विभुनोदितः ॥

एवमीदृशस्य योगफलं दर्शयन् प्रकरणमुपसंहरति--

चैतन्यात्मनः स्वरूपात् उदितस्य अस्य विश्वस्य भूयः पुनः, विगलितभेदसंस्कारात्मना बाहुल्येन च प्रतिमीलनम्, चैतन्याभिमुख्येन निमीलनं,

किमत्र संयमे वाच्यमियमेव समाहितिः ।
देदीप्यमाना सर्वासु दशास्वन्तर्निरन्तरम् ॥ २०२ ॥
निर्व्युत्थानावधानेन योगिनैवानुभूयते ॥ ४४ ॥

'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ॥ २०३ ॥
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ।'
इति श्रीभगवद्गीताप्रोक्तनीत्यनुसारतः ॥ २०४ ॥

'ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम् ।
योगिनां तु विशेषोऽयं सम्बन्धे सावधानता ॥ १०४ ॥

यतो हि समग्रदेहधारिणां प्राणिनाम् इदं ग्राह्यम् अयं ग्राहकः इत्यादिना यो व्यवहारो जायते, स तु सामान्य एव अस्ति । किन्तु महायोगनिष्ठपुरुषाणामयमेव विशेषः ग्राह्यग्राहकस्वरूपावधारणात्मकसम्बन्धे सावधानता स्वचिद्रूपस्य गृहीतृरूपस्य विस्मृति कदापि नैव भवितुमर्हति ॥ ४४ ॥

सम्प्रति विश्वोत्तीर्णपूर्णाहन्तासमावेशितचेतसो योगिनो योगफलं सुष्ठुः प्रदर्शयन् उपसंहृतीति निर्दिशति—'भूयः स्यात्प्रतिमीलनम् ।' चैतन्यः स्वस्वरूपभूत आत्मा तत

मीलनं, पुनरपि चैतन्यात्मस्वरूपोन्मीलनरूपं परयोगाभिनिविष्टस्य योगिनो भवति ॥

इति शिवम् ॥ ४५ ॥

इति श्रीशिवसूत्रवृत्तौ आणवोपायप्रकाशनं नाम तृतीय उन्मेषः ॥ ३ ॥

समाप्तेयं शिवसूत्रवृत्तिः ॥

उपायघटनाबन्धस्तत्र सिद्धान्तमाह च ।
इत्थमुक्तदृशैवेदं जगदिच्छाविजृम्भितम् ।
सर्वं विभोरतो मायाशक्तिवीर्यादणुः पृथक् ॥

पुनरपि चैतन्यात्मस्वस्वरूपोन्मीलनरूपं परयोगाभिनिविष्टस्य योगिनो भवति । तदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे--

'उन्मनापरतो देवि तत्रात्मानं नियोजयेत् ।
तस्मिन्युक्तस्ततो ह्यात्मा तन्मयश्च प्रजायते ॥'

इति । तथा च--

'उद्बोधितो यथा वह्निर्निर्मलोऽतीव भास्वरः ।
न भूयः प्रविशेत्काष्ठे तथात्माध्वन उद्धृतः ॥
मलकर्मकलाद्यैस्तु निर्मलो विगतक्लमः ।
तत्रस्थोऽपि न बाध्येत यतोऽतीव सुनिर्मलः ॥'

विश्वोत्तीर्णनिजाहन्तासमावेशितचेतसः ।
पर्यन्ते योगिनो योगफलं सम्यक् प्रदर्शयन् ॥ २०५ ॥
उपसंहरति श्रीमानुक्तं प्रकरणं शिवः ।
पुनश्च प्रोक्तचैतन्यस्वरूपोन्मीलनात्मकम् ॥ २०६ ॥
परयोगाधिरूढस्य भवेत्परमयोगिनः ।
भूयः स्यादिति वाक्यस्य स्फुटमेवायमाशयः ॥ २०७ ॥

एव समुदितस्य अस्य नामरूपात्मकविश्वप्रपञ्चस्य पुनः प्रशान्तशरीरादिप्राणपुर्यष्टक-भेदसंस्कारात्मना आधिक्येन च प्रतिमीलनं, चैतन्याभिमुख्येन मीलनं, भूयश्च प्रोक्तचैतन्य-स्वरूपोन्मीलनात्मकं परयोगाधिरूढस्य परमयोगिनो भवेत् ।

आत्मानं बुबुधे भूयः प्रोक्तरीत्युपदेशतः ।
कालुष्यप्रक्षयेण स्यात्प्रतिमीलनमीश्वरे ॥
अपृथग्भावमापन्नो यदसौ परमेश्वरे ।
तदसौ परिपूर्णैकघनानन्दः शिवो भवेत् ॥ ४५ ॥

इति । भूयः स्यादित्यभिदधतोऽयमाशयः, यत् शिवत्वमस्य योगिनो न अपूर्वम्, अपि तु स्वभाव एव, केवलं मायाशक्त्युत्थापितस्वविकल्पदौरात्म्यात् भासमानमपि तत् नायं प्रत्यवम्रष्टुं क्षमः, इत्यस्य उक्तोपायप्रदर्शनक्रमेण तदेव अभिव्यज्यते इति शिवम् ॥ ४५ ॥

यच्छिवत्वममुष्योक्तं नापूर्वं तत्तु योगिनः ।
स्वभाव एव, तन्मायाशक्तिप्रोत्थापितान्निजात् ॥ २०८ ॥
नायं विकल्पदौरात्म्याद्भासमानमपि स्वतः ।
विम्रष्टुं क्षम इत्यस्य प्रोक्तोपायक्रमेण तत् ॥ २०९ ॥
शिवत्वं व्यक्तिमेतीति शिवेनोदीरितं शिवम् ।
इत्युन्मेषस्तृतीयोऽयमाणवोपायसूचकः ॥ २१० ॥

तस्मात् समनाशक्तेः परतो य आत्मन उन्मनाशक्तियोगः स तादात्म्यरूपो भवति । तत्र विकल्परहितपरामर्शोऽपि औन्मनसे परमशिवस्वरूपे न विद्यते । यतो हि तत्र वेद्यत्वस्य अभावोऽस्ति । वेद्यताया समनावधेः षडध्वात्मरूपेण सविकल्परूपत्वात् । यथोक्तं स्वच्छन्दतन्त्रे—

'उद्बोधितो यथा वह्निर्निर्मलोऽतीवभास्वरः ।
न भूयः प्रविशेत्काष्टे तथात्माध्वन उद्धृतः ॥
मलकर्मकलाद्यैस्तु निर्मलो विगतक्लमः ।
तत्रस्थोऽपि न बाध्येत यतोऽतीव सुनिर्मलः ॥' इति ।

अतः सूत्रे स्थितो 'भूय स्यादिति' पदस्य स्फुटमेव अयम् अभिप्रायोऽस्ति, यदमुष्य शिवत्वं प्रतिपादितं भवति, तत्तु अस्य महायोगनिष्ठपुरुषस्य अपूर्वं नास्ति, किन्तु स्वभाव एव भवति, यथा 'चैतन्यमात्मा' इत्यादिसूत्रेण पूर्वमेव निरूपितमस्ति । तन्मायाशक्तिप्रोत्थापितात् निजात् विकल्पदौरात्म्यभावात् प्रकाशमानमपि नैव अयं प्रत्यवम्रष्टुं समर्थो संजायते, इत्यस्य प्रोक्तोपायप्रदर्शनक्रमेण शिवत्वमभिव्यज्यते इति शम् ॥ ४५ ॥

इति श्रीमदाचार्यकृष्णानन्दसागरविरचित शिवसूत्ररञ्जनी समाप्ता ।

इति संक्षेपतः सम्यक् सूत्रवार्तिकमुत्तमम् ।
शतत्रयेण श्लोकानां नवत्या चोपवर्णितम् ॥

इति प्रकरणत्रयं सुघटमीषदुन्मीलितं
मया शिवमुखोद्गतं सुमतिसिद्धये सांप्रतम् ।

'सेयमागमसंवादस्पन्दसंगतिसुन्दरा ।
वृत्तिः शैवरहस्यार्थे शिवसूत्रेषु दर्शिता ॥ १ ॥
शिवरहस्यनिदर्शनसंस्रवन्–
नवनवामृतसाररसोल्बणाम् ।
सुकृतिनो रसयन्तु भवच्छिदे
स्फुटमिमां शिवसूत्रविमर्शिनीम् ॥ २ ॥
इयमरोचकिनां रुचिवर्धिनी
परिणतिं तनुते परमां मतेः ।
रसनमात्रत एव सुधौघवत्–
मृतिजराजननादिभयापहृत् ॥ ३ ॥
देहप्राणसुखादिभिः परिमिताहन्तास्पदैः संवृत–
श्चैतन्यं चिनुते निजं न सुमहन्माहेश्वरं स्वं जनः ।
मध्ये बोधसुधाब्धि विश्वमभितस्तत्फेनपिण्डोपमं
यः पश्येदुपदेशतस्तु कथितः साक्षात्स एकः शिवः ॥ ४ ॥
तरत तरसा संसाराब्धिं विधत्त परे पदे
पदमविचलं नित्यालोकप्रमोदसुनिर्भरे ।

इति श्रीशिवसूत्राणां रहस्यार्थोपबृंहितम् ।
प्रागुक्तवार्तिकांशेन सहितं वार्तिकान्तरम् ॥ २११ ॥
अखण्डसंवित्साम्राज्ययौवराज्याधिकारिणाम् ।
पराक्रमहठाक्रान्तषट्त्रिंशत्तत्त्वसंपदाम् ॥ २१२ ॥
मधुराजकुमाराणां महाहन्ताधिरोहिणाम् ।
पश्चिमेन तदालोकध्वस्तपश्चिमजन्मनां ॥ २१३ ॥
मया वरदराजेन मायामोहापसारकम् ।
श्रीक्षेमराजनिर्णीतव्याख्यानाध्वानुसारिणा ॥ २१४ ॥

विचार्य गतमत्सरबुधैर्जनैर्गुणग्राहिभिः
सुसेव्यमिह तेष्वलं भवतु सिद्धिमोक्षप्रदम् ॥

इति काश्मीरिक-श्रीमदाचार्यभट्टदिवाकरात्मज-भट्ट श्री-भास्कर-विरचिते शिवसूत्रवार्तिके विभूतिस्पन्दाख्यस्तृतीयः प्रकाशः ॥ ३ ॥

समाप्तश्चायं शिवसूत्रवार्तिकाख्यो ग्रन्थः ॥
श्रीशिवार्पणं भूयात् ॥

विमृशत शिवप्रोक्तं सूत्रं रहस्यसमुज्ज्वलं
प्रसभविलसत्सद्युक्त्यान्तः समुत्प्लवदाति तत् ॥ ५ ॥

इति श्रीमन्महामाश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तपादपद्मोपजीविश्रीक्षेमराजविरचितायां शिवसूत्रविमर्शिन्यामाणवोपायप्रकाशनं नाम तृतीय उन्मेषः ॥ ३ ॥

समाप्ता चेयं शिवसूत्रविमर्शिनी ॥

कृतिः श्रीक्षेमराजस्य क्षेमायास्तु विमर्शिनाम् ।
शिवस्वात्मैक्यबोधार्था शिवसूत्रविमर्शिनी ॥

कृतिना कृष्णदासेन व्यञ्जितं कृपयाञ्जसा ।
अनुगृह्णन्तु नामैतत् सन्तः सन्तोषमागताः ॥ २१५ ॥

इति श्रीकृष्णदासापरपर्यायवरदराजविरचिते शिवसूत्रवार्तिके आणवोपायप्रकाशनं नाम तृतीय उन्मेषः ॥ ३ ॥

शिवसूत्रटीकान्तर्वर्तिनां

पारिभाषिकपदनां विवरणम् ।

अकुलम्—अनुत्तरः । परप्रकाशः । पूर्णाहन्ता । अकारलक्षणं कुलं शरीरमस्येति आद्यवर्णोऽभिहितः ।

अख्यातिः—अप्रथनः । आणवमलः । संकोचः ।

अग्निः—प्रमाणम् ।

अग्नीषोमात्मिका—सृष्टिसंहारकारिणी पराशक्तिः ।

अणुः—जीवः । संकुचित प्रमाता । परिमितत्वादणुः । अणिति श्वसिति इति अणुः देहपुर्यष्टकप्राणाद्याश्रयः चित्तमयः प्रमाता ।

अतिशान्तपदम्—विश्वोत्तीर्णं परमशिवधाम ।

अनादिशिवः—परमशिवः ।

अनाश्रितः—शिवतत्त्वावस्थितकारणपञ्चके प्रथमं कारणं स्वशक्त्याश्रयत्वात् अनाश्रितसंज्ञम् ।

अनुत्तरम्—अकारपरामर्शः परमशिवश्च ।

अनुभवभूः—प्रकाशभूमिः । चिच्छक्तिः ।

अनुसन्धानम्—विमर्शनम् ।

अन्धतामिस्रः—मरणस्त्रासः । गहनान्धकारः ।

अबुद्धम्—योगविषयधारणाज्ज्ञानमयी जागरावस्था ।

अमृतवर्णः—सकारः ।

अम्बा—पराभट्टारिका । शशाङ्कशकलाकारा शक्तिः । पारमेश्वरी विशेषशक्ति । या अप्ररूढभेदतया सामरस्यात्मिका द्वैतप्रथोन्मुखी ।

अम्बिका—वर्णशरीरोल्लासिनी विशिष्टशक्तिः ।

अर्कः—ज्ञानशक्तिः । प्रमाणम् प्राणः ।

अर्धचन्द्रिका—वर्णशरीरोल्लासिका विशिष्ठशक्तिः ।

अविद्या—भेदप्रथात्मा बन्धः । मोहः । अज्ञानम् ।

अविवेकः—मोहः । अज्ञानम् ।

अलंग्रासयुक्तिः—प्रशमविशेषः । यत्र अलमत्यर्थं सार्वात्म्येन सृष्टयादीनां ग्रासः स्वात्मसात्कारः ॥

अहङ्कारः—संरम्भः । न ममेदं, ममेदम् इत्यभिमानसाधनम् । मिथ्याहंभावः ।

आत्मतत्त्वम्—शुद्धविज्ञानकेवलः यत्समनापदान्तव्याप्तिकम् ।

आनन्दः–अपानशक्तिः।आह्लादशक्तिः। शक्तिविशेषः। आ–इति वर्ण-परामर्शः।

आनन्दवृन्दम्–आदि–क्षान्तवर्ण - समूहः।

आपूरणीय–विसर्गसंघट्टिता कौलिकी शक्तिः। ऐन्द्रीशक्तिः। योगिनी-वक्त्रम्।

आवृत्तिः–अविद्या। विकल्पाना-मुदयः। मोहः।

आसनम्–उदानाभिधः प्राणः। परं शाक्तं बलम्। आस्यते, नित्य-मैकात्म्येन स्थीयते अस्मिन् इति आसनम्।

इच्छा–इवर्णपरामर्शः।

इच्छाशक्तिः–सर्वातिशायी शक्ति-विशेषः। यद्वा परस्य प्रमातुः सिसृक्षात्मा परामर्शः। विमर्शा-त्मिकाशक्तिः। समवायिनी। उद्योगः।

इन्दुः–क्रियाशक्तिः। प्रमेयः। अपानः।

ईशनम्–ई-इत्यक्षम्।

ईशानी–इष्यमाण स्फुटसमापत्तिमती अक्षुब्धेच्छाशक्तिः। परमेश्वरस्य नियन्त्रिताशक्तिः।

ईश्वरतत्त्वम्–मन्त्रेश्वरः। प्रेर्यत्वम्, तस्यैव भेदप्रथाप्ररोहणायां प्रेषणाहेतुत्वात्।

उद्घातः–नादकलानुभवात्मा शब्दः।

उद्बुभूषा–आद्यकोटिः।

उद्यमः–प्रसरद्रूपाया विमर्शमय्याः संविदो झगिति उच्छलनात्मक-परप्रतिभोन्मज्जनम्।

उद्योगः–उन्मेषः। उद्यमः। सृष्टिः। इच्छाशक्तिः।

उन्मना–समनोपरि शक्तिरूपा मान्त्री-कला।

उन्मेषः–उद्योगः। इ-इत्यक्षर-परामर्शः।

उन्मेषदशा–उकाररूपाशक्तिः।

उल्लङ्घनवृत्तिः–शक्तिसंकोचः।

एकाणवा–पश्यन्तीरूपा वाक्।

औन्मनसं धाम–शाम्भवपदम्।

कञ्चुकम्–पाशः। अवृत्तिः। माया-दिनियत्यन्तं तत्त्वजालम्। अथवा कलादि-नियतितत्त्वान्तः तत्त्वनिचयः। पुंसः स्वरूपाव-रणत्वात् कञ्चुकमिति उच्यते।

कन्दः–मूलाधारं बिन्दुर्भ्रूमध्य-स्थानम्।

कल्पितप्रमाता– शून्यपुर्यष्टकाद्यभि-मानी जीवः।

कला–तत्त्वविशेषः। पुरुषस्य किञ्चि-त्कर्तृत्वहेतुः। भागः। शक्तिश्च। कलयति स्वरूपमावेशतीति कला। वस्तुनि, वा तत्र तत्र प्रमातरि स्वकलनमेव कला।

कलाः–तत्त्वानि। तत्त्वानां स्वसाम-र्थ्यम्। आदि-क्षान्तवर्णसमहः। निवृत्त्यादयः।

कलाचक्रम्—मातृचक्रम्। शक्तिचक्रम्। देवीचक्रम्। रश्मिचक्रम्। आदि-क्षान्तवर्णसमूहः।

कलातत्त्वम्—किञ्चित्कर्तृत्वसामर्थ्यम्।

कर्मेन्द्रियाणि—वाक्, पाणी, पादौ, पायुः, उपस्थः। अक्षैर्भिन्नं-कर्तृत्वम्।

कालः—तत्त्वविशेषः। भावानां भासनाभासनात्मनां क्रमावच्छेदकः।

कालतत्त्वम्—इदान्तोनभावे आकलनम्।

कालाग्निः—निवृत्तिकलायां कालाग्निभुवनेशी नाम रुद्रविशेषः। यत्प्रकोपोपक्रमे विश्वं समुपरम्यते संहारारम्भे।

कुण्डली—पारमेश्वरी विसर्गशक्तिः। सैव गर्भीकर्तनिखिलविश्वनिर्भरत्वात् कुण्डलीशब्दव्यपदेश्या।

कुम्भकः—प्राणस्य हृदि पूरणम्। प्राणायामविशेषः।

कुलम्—परसंवितत्त्वम्। षट्त्रिंशत्तत्त्वानि च; तानि यथा-शिव-शक्ति-सदाशिव-ईश्वर-शुद्धविद्या-माया-कला-विद्या-राग-काल-नियति-पुरुष-प्रकृति-बुद्धि-अहङ्कार-मनः-श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-जिह्वा-घ्राण-वाक्-प्राणि-पाद-पायु-उपस्थ-शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-आकाश-वायु-वह्नि-सलिल-भूमयः।

कुलमार्ग—परसंवित्तत्त्वप्राप्त्युपायः।

क्रियाशक्तिः—विश्वाकारवैचित्र्यधारित्वयोग्यता।

क्षेत्रज्ञाः—पशुरूपाः प्रमातारः, ब्रह्मादि-स्थावरान्ताः।

क्षोभः—अहमिति प्रत्ययभावः। क्षोभो देहाद्यहम्प्रत्यय रूपः।

खेचरी—मुद्राविशेषः, येन चिदाकाशभोगे गतिर्भवति। शिवावस्था।

खेचरीचक्रम्—खे बोदगगने चरन्तीति खेचर्यः, तासां चक्रं समूहः। प्रमातृभूमिकाश्रितो योगिनीगणः।

गगनाङ्गना—चिच्छक्तिः।

गुणस्पन्दाः—सत्वादिवृत्तयः।

गुणाः—सुखदुःखमोहित्वानि।

गुरुः—शाम्भवो अनुग्रहशक्तिः।

गुरुवक्त्रम्—अनुग्राहिकाशक्तिः।

ग्रन्थिः—पाशः।

घण्टिका—तालवधोभागः। तालुमूलं च।

चक्रम्—कलासमूहः।

चक्रेश्वरः—मातृगणेश्वरः।

चण्डः—मध्यप्राणः।

चन्द्रः—प्रमेयम्। अपानाख्याः प्राणश्च।

चमत्कारः—चमतः भुञ्जानस्य यत्करणं संरम्भ संकेतप्रदर्शनं स चमत्कारः।

चरमकला—शान्त्यतीताख्या कला।

चर्या—स्वरूपसाक्षात्कारोपायस्थितिः कर्तव्यम्।

चेतना—बुद्धिः। प्राणाख्या शक्तिः।

जाग्रत्—ग्राह्यग्रहणग्रहीतृरूपा ऐन्द्रियज्ञानशक्तिः।

जाड्यम्—मोहः। अज्ञानता।
जीवन्मुक्तः—संकुचितप्रमातृतागुणी-कारपूर्वं परसमावेशशाली।
ज्ञानशक्तिः—संविच्छक्तिः। आमर्शात्मता।
ज्येष्ठा—संहारात्मकशक्तिविशेषः, यया सुप्रबुयोगिनां शिवीभावसमापत्तिः।
ज्येष्ठाशक्तिः—उकारात्मक-शशाङ्क-शकलाकारतारूपः वर्णसन्निवेशः। अनुग्राहिका शक्तिर्वा।
तत्त्वम्—विशेषरूपाणां वर्गाणामेकीकरणकारणं सामान्यसंवित्।
तत्त्वत्रयम्—नर-शक्ति-शिवात्मकम्। आत्म-विद्या-शिवाख्यं वा।
तत्त्वानि—शिवादि-भूम्यन्तानि षट्त्रिंशत्।
तन्मात्राणि—शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धरूपाणि।
तमः—आत्माभिमानः।
तामिस्रः—कुटुम्बादिबाधाकर्तरि अमर्षणम्।
तुर्यातीता—मातृकाशक्तिः।
तूर्यभूः—स्वस्वरूपैकघनताविमर्शः।
त्रिराणवा—वैखरी वाक्।
दक्षिणमार्गः—सूर्यमार्गः।
दिव्यदेहः—परदेहः।
दिव्यमुद्रा—खेचरीमुद्रा।
दीक्षा—संस्कारविशेषः, स्वरूपशक्तिदान-पाशक्षपणात्मा।
दृक्—प्राणशक्तिः। प्रकाशशक्तिः।
दृष्टृता—शरीरेऽहंभावः।
देव्यः—शक्तयः। रश्मयः।
द्रष्टृधरा—अभिलाषोद्गतेः पूर्वा कोटिः।
द्वादशान्तः—प्राणापानयोः विश्रान्तिस्थानम्।
धारणा—य-र-ल-व-इति वर्णाः। ज्ञानप्रवाहरूपाः। अहं वायुरहं शून्य इत्यादि प्रत्ययरूपः प्रवाहः।
धीतत्त्वम्—मन्त्रता।
ध्रुवः—अनुत्तरधाम। अनुत्तराख्यवर्णपरामर्शश्च।
नक्षत्रम्—प्रमितिः।
नववर्गकः—अ-क-च-ट-त-प-य-श-क्ष रूपः।
नादः—अपानः। ध्वनिविशेषः।
नासा—अन्तर्द्वादशान्तः।
निमेषः—शक्तिचक्रस्य स्वात्मनि विलीनतापादनम्।
नियतिः—गमेदं कर्तव्यमिति नेदं कर्त्तव्यमिति नियमहेतुः, तत्त्वविशेषः।
निरानन्दः—प्रमातृसंमतादानन्दात् निष्क्रान्तो दशाविशेषः। ब्रह्मानन्दः।
निष्कलजपः—प्राणवाङ्गपरामर्शः।
पञ्चशक्तयः—चिदेच्छानन्दज्ञानक्रियारूपावर्णसन्निवेशोल्लासिका।
पतिः—शुद्धप्रमाता मन्त्रादिरूपः। मुक्ताणुः शक्तिभिरनावृतस्वभावः। परप्रमाता, मुक्तो वा।
पदम्—जाग्रदादिदशा।

परतेजः—पराहन्ता ।

परदेहः—परप्रमातृभावः ।

परानन्दः—परेण प्रमेयेन कृत आनन्द-विशेषः ।

परावाक्—विमर्शशक्तिः । अनन्य-पेक्षाहंपरामर्शमयी पराशक्तिः ।

परिस्पन्दः—असांकेतिकः पराहं-परामर्शः ।

पवमानः—मध्यमप्राणशक्तिः ।

पशुः—अणुः । जीवः । कर्मात्मा । संवाह्यः । आणवादिपाशबद्धः । अविद्यास्मितादिभिः पाशितो जीवः ।

पशुमातरः—घोराभिधाः शक्तयः । माहेश्वर्याद्याः शक्तयः ।

पाञ्चभौतिकगणः—भिन्नशब्दादितोद्-वृत्तत्त्वम् ।

पाशः—आणवादिमलबन्धः । अविद्या-स्मितादयश्च ।

पाश्यः—जीवः परिमितप्रमाता ।

पीठेश्वर्यः—ब्राह्म्यादिशक्तयः ।

पुमान्—पुरुषतत्त्वम् । संकुचित-प्रमाता ।

पुर्यष्टकम्—तन्मात्र-मनोहंकृद्बुद्धीनां संघातात्मकमष्टकं सूक्ष्मशरी-रम् । सूक्ष्मदेहः ।

पौद्गलजपः—अजपापरामर्शः ।

प्रक्रियादेहः—अधिकारशरीरम् ।

प्रतिमा—नवनवस्वरूपप्रथोल्लेखशा-लिनी संवित् ।

प्रतिमालोकः—दृक्क्रियारूपिणी शि-वस्य शक्तिः ।

प्रभुशक्तिः—स्वातन्त्र्यशक्तिः । सं-विच्छक्तिः ।

प्रलयाकलाः—मायातत्त्वावस्थिताः शून्यप्रमातारः ।

प्राणः—परनादः ।

प्राणबीजम्—ह-इत्यक्षरम् ।

प्रासादः—नादात्या मन्त्रविशेषः ।

प्रोल्लासभूमिः—महानन्दः । आत्म-चैतन्यावस्था ।

बन्धः—आवरणम् ।

बिन्दुः—प्राणः । तेजोविशेषः । पर-प्रकाशात्मा । अविभक्तः शिव-प्रकाशः । यद्वा भ्रूमध्यादौ प्रदेशे ध्यानाभ्यासप्रकर्षेण प्रवर्धमानो-त्तरोत्तरः तेजोविशेषः ।

बीजम्—चिदात्मा ।

बुद्धः—द्रष्टृधराक्रमणशीलः प्रमाता । योगिगम्यधारणाप्रत्ययप्रवाहमयी स्वप्नावस्था ।

बुद्धिः—निश्चयकारि विकल्पप्रति-बिम्बधारि अन्तः साधनम् ।

बुद्धीन्द्रियगणः—अवैविशेषितं ज्ञत्वम् ।

बुद्धीन्द्रियाणि—श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-रसना-घ्राणाख्यानि ।

प्रतिपत्तिः—ज्ञानम् ।

प्रधानम्—गुणसामान्यरूपं प्रकृति-तत्त्वम् ।

प्रधानतत्त्वम्—सुखदुःखादिज्ञानस्य साम्यावस्था ।

प्रबुद्धम्—योगिविषयसमाधिज्ञानमयी सुषुप्तावस्था । द्रष्टृधरानि-वासी ।

बैन्दवीकला—स्वातन्त्र्यशक्तिः ।

भावना—विमर्शना ।

भावशरीरम्—सृष्टयादिरूपम् । द्विविधं शरीरं भावात्मकं भूतात्मकं च । तत्र मायाशक्तिवैभवविस्तारिततात्त्विकस्वभावतया वस्तुसंवेदनावसरे स्वरूपापरामर्शमुकुलितसामर्थ्योऽयं जीवः अवच्छिन्नाहंकारास्पदतया शिरः पाण्यादिमच्छशरीरत्वेन यत् परामृशति तदस्य सृष्टयादिमयत्वात् भूतात्मकम् । यत्तु व्यतिरिक्तं शब्दादिविषयत्वेन परामृशति तत् भावात्मकम् ।

भैरवः—परमशिवः, भरणरवणवमनस्वभावत्वात् ।

भैरववृत्तिः—शक्तिविकासः ।

भैरवसमापत्तिः—परमशिवैक्यम् ।

मत्स्यवलनम्—अधः शक्तिः ।

मनः—अक्षः प्रयोक्तृता । संकल्पकारिसाधनम् ।

मन्त्रः—परप्रमाता । चिच्छक्तेः स्वस्वभावः । मन्त्र्यते अन्तरभेदेन विश्यते परमेश्वररूपम् अनेनेति ।

मन्त्रमहेश्वराः—सदाशिवतत्त्वावस्थितः प्रमातृवर्गः ।

मन्त्रवीर्यम्—परावाक्परामर्शः ।

मन्त्रेन्द्रता—मन्त्रेश्वराख्यप्रमातृभावः ।

मन्त्रेश्वराः—ईश्वरतत्त्वावस्थितः प्रमातृवर्गः ।

मरीचिः—शक्तिः । गुणस्पन्दः ।

मलः—अज्ञानम् । संकोचाभासो वा ।

महानन्दः—महान् प्रमाणादिदशाधिशायिनिरानन्दादिवैलक्षण्यात् उत्कृष्टः प्रमातृसंगतः आनन्दविशेषः ।

महामोहः—पुत्रकलत्रादिषु मिथ्याहंबुद्धिः ।

महाह्लदः—शुद्धचिदात्मा, विश्वलहरीप्रसरणाश्रयत्वात् ।

मातरः—योगिनीगणः । शक्तयः । रश्मयः । कलाः । देव्यः ।

माता—वाच्यवाचकात्मजगज्जननात् माता ।

मातृकाचक्रम्—योगिनीगणः । ज्ञानाधारभूताशक्तिः विश्वजननी परावाक् शक्तिः ।

माया—अविद्या । स्वाङ्गकल्पेषु भावेषु विभेदबुद्धिः । मीनाति हिनस्तीति मायाशक्तिरुच्यते । स्वरूगोपनशीला शक्तिः । कलादितत्त्वानामविवेकः ।

मायाप्रमाता—सकलाख्यः प्रमाता ।

मायाशक्तिः—दुर्घटसंपादनसमर्थः शक्तिविशेषः ।

मायीयमलः—अहं ममेति भेदप्रथात्मकं ज्ञानम् । भिन्नवेद्यप्रथा । मायादिविद्यातत्त्वान्तः कञ्चुकः ।

मालिनी—विश्वरूपिणी । नादिफान्तरूपा, मलते विश्वमन्तर्दर्पणवत् धत्ते इति मालिनी; विश्वविमोहनशक्तिः ।

माहेश्वर्याद्याः—परादिभेदभिन्ना शक्तयः। माहेश्वर्यादयः वर्गाद्यधिष्ठात्रयः शक्तयः।

मुक्तशिवः—शुद्धप्रमाता। परमशिव। व्यापकत्वादिधर्मान्तरसाम्येन दर्शनान्तरोपकल्पितशिवीभाव आत्मा। शुद्धप्रमातृवर्गः।

मुक्तिः—मोक्षः। परमपुरुषार्थः। अज्ञानग्रन्थिभेदात् स्वशक्त्यभिव्यञ्जनम्। विश्वोत्तीर्णपरमशिवीभावो वा।

मुद्रावीर्यम्—खेचर्यावस्था।

मूर्च्छा—मोहः। देहात्मता।

मूर्त्तिः—स्फुटतमक्रियाशक्तिः। शलशक्तिः। योगेशीशक्तिः।

मूर्त्तिक्रियायोगः—भुवनादिरूपो मन्त्रादिरूपो वा अध्वा।

मोहः—देहात्मभावः। अज्ञानम्। अविवेकः।

योनिः—शक्तिः। सा चतुधा यथा—अम्बा, ज्येष्ठा, रौद्री, वामा च। मायाशक्तिः।

रविः—प्रमाणम्। प्राणश्च।

रश्मयः—शक्तयः। चिद्भैरवस्य वृत्तयः।

रागः—(षट्त्रिंशत्तत्त्वान्तर्गतं) तत्त्वान्तरम्। काल्यकलनं वेद्यसम्बन्धं विना न युज्यते बोधरूपस्य पुंसः। किञ्चित् मे स्यादिति वेद्यसामान्यात्मना विशिष्टवस्त्वादिविषयबुद्धिधर्मस्थूलरागविलक्षणेन येन अयं पुमान् उपरक्तः।

रागतत्त्वम्—उद्मेष इष्टमस्ति इत्याकलनम्। पाशः। बन्धनम्।

रुद्रः—रोदमति सर्वमन्तकाले। रुक्तेज-तेजस्वी रुत्या प्राणरूपया स्वात्मानं प्रापयति। रुतं शब्दं राति ददाति। रुदं संसारदुःखं द्रावयति।

रुद्राः—प्रमातृप्रमेयरूपस्य विश्वस्य सृष्टिस्थितिसंहारकारिणो रुद्राः, पतिरूपाः। क्षेत्रज्ञाः, पशवो ब्रह्मादयः।

रेखिणी—वर्णविशेषाधिष्ठाता शक्तिविशेषः।

लयः—भावान्तर्मुखीभावनम्।

लाभभूमिः—परानन्दः। पराशक्त्यवस्था।

लोकः—वस्तुग्रामः। ग्राहकवर्गः। शुद्धचित्प्रकाशः। लोक्यते इति लोकः। लोकयतीति लोकः।

वाचकम्—मन्त्रादि, मन्त्र-वर्ण-पदाध्वरूपम्।

वाच्यम्—कलादि, कला-तत्त्व-भुवनाध्वरूपम्।

वाममार्ग—सोममार्गः।

वामा—सृष्ट्यात्मिका शक्तिः, यया संसारिणामधोऽधःपातो भवेत्। वामा संसारवमना इति। संसारवमनशीलः शक्तिविशेषः। विजिज्ञास्योन्मेषाच्छुरितायाम-

लशक्तिः। स्फुटतरशूष्णारशक्तिः। शूलशक्तिः । योगीशीशक्तिः।

विज्ञानाकलाः—मायोर्ध्वे शुद्धविद्याधः स्थितः प्रमातृवर्गः।

वितर्कः—विमर्शः। विश्वात्मा शिव एवाहमस्मि इति विचारः।

विद्या—उन्मनाशक्तिः। किञ्चिज्ज्ञत्वकारणं तत्त्वम्। शुद्धविद्यातत्त्वम्। आत्मादि तत्त्वत्रये अन्यतमं तत्त्वं यत् शुद्धविद्यादिशक्त्यन्ताध्वव्यापकम्। शुद्धचिन्मात्रतावेशात् सहसोन्मेषः। स्वप्रकाशविकासः।

विद्यातत्त्वम्—किञ्चिज्ज्ञानसामर्थ्यम्।

विश्रामः—अन्नकोटिः।

विश्रामभूमिः—निरानन्दः। शिवरवस्था।

विश्वमातरः—माहेश्यादिशक्तयः।

विनायकाः—दिव्यभोगभूमिकाद्यधिष्ठातारः पससिद्धिविघ्नोद्युक्ताः।

विसर्गभूमिः—कौलिकीशक्तिः।

वृत्तिः—जाग्रत्।

वेदकः—प्रभाता।

वेद्यम्—प्रमेयम्।

वीर्यम्—यश विमर्शशक्तिः। सत्वकर्तृत्वशक्तिः। रहस्यम्।

वीरेशः—मरीचिनिचयस्य ग्रासकर्ता। (यदा गुणस्पन्दानां भोक्तृत्वेन चमत्करणात्) पतिप्रभाता। वीराणामिन्द्रियाणां स्वामीईश्वर।

शक्तयः—भातरः। माहेश्वर्याद्याः। चिदादयः।

शक्तिः—विश्वभरवबीजभूमिः किञ्चिदुच्छूनतारूपा संबिचछक्तिः। कला। रश्मिः। अधोराशक्तिः। स्वातन्त्र्यम्। परापराशक्तिः। चिच्छक्तिः। पराशक्तिः।

शक्तोपायः — विकल्पसंस्करणादिद्वारेण उपरितनसोपानारोहणम्।

शक्तिचक्रम्-सृष्ट्यादिदेव्यः। विश्वम्। इन्द्रियवर्गः। करणेश्वरीवर्गः। मन्त्रगणः। मुद्रागणः। चिदादिशक्तयः। खेचर्यादियोगिनीगणः।

शक्तितत्त्वम्—दृक्क्रियासंघट्टात्मादशाविशेषः।

शक्तिपातः—अनुग्राहकशक्ति संपातः (यदनुविद्धहृदयो जनो विवेकोन्मुखतामेति। शिवरश्मिस्पर्शः।

शब्दराशिः — आदि - क्षान्तवर्णसमुदायः।

शाक्तजयः—पराहंभावपरामर्शः।

शाम्भवोपायः — विकल्पसंस्कार - उच्चारादिसाधननिरपेक्षं सकृदुपदेशात्मना मार्गेण शिवधामप्राप्तिः।

शिवः—अनुत्तरवर्णः। शक्तिमत्स्वरूपं प्रथमतत्त्वम्।

शिवतत्त्वम्—स्वज्योतिष्ट्वम्।

शुचिः- उदानः।

शुद्धतत्त्वम्—परमशिवः।

शुद्धविद्या—कलादितत्त्वानां विवेकः। स्वातन्त्र्यशक्तिः। भेदाभेदमयी तत्त्वदशा।

षष्ठबीजानि – ॠ - ॠ-लृ-लॄ इति वर्णाः ।

संवाह्यः–कर्मात्मा । पशुः ।

संवेदनम्–आद्योऽनुभवः ।

संवित्–ज्ञानशक्तिः । स्वातन्त्र्यशक्तिः । पूर्णाऽहंविमर्शात्मिका शक्तिश्च ।

सकलः- सदाशिवः । मन्त्रविशेषः । समनान्तः स्फारः । परिमितप्रमातृवर्गः (देवादि स्थावरान्तः) जीवाश्च ।

सत्यप्रमाता–परमशिवः । प्रकाशवपुः ।

सदाशिवः–तृतीयतत्त्वम् । महाशून्यातिशून्याख्यां शक्तौ महेशस्य अहमिदमित्यभेदेन पूर्णाहन्ताचमत्कारमयावस्थाविशेषः।

सदाशिवतत्त्वम्–सर्वज्ञानक्रियावत्त्वयोग्यता ।

समना-सुसूक्ष्मतमतत्त्वप्रपञ्चमनन - त्राणरूपा, अशेषतत्त्वप्रथमासूत्ररूपा वा शक्तिः ।

समाधिः–समापत्तिः ।

समाधिव्यक्तयः–योगभूमिकाः ।

समाधिसुखम्–पदद्वये स्वात्मविकासप्रमोदः ।

समावेशः–मितप्रमातृभावगुणीकारात् स्वतन्त्रबोधतादात्म्यम् ।

सुप्रबुद्धम्–तुरीयावस्था ।

सुषुप्तता–ज्ञानज्ञेयशक्तेरनुदये चिद्रूपस्य अविवेकः ।

सूक्ष्मशरीरम्–पुर्यष्टकम्, तन्मात्रान्तः करणरूपम् ।

सूर्यः–प्राणः । प्रमाणं च ।

सृष्टिः–भावौन्मुख्यम् ।

सोमांशः–प्रमेयभागः । अपानः ।

सौषुप्तव्योमः–हृदयम् ।

सौषुम्नमार्गः–मध्यवाहः ।

स्तोभः–चित्तस्वावरणम् ।

स्थतिः–भावाभिष्वङ्गः ।

स्थूलभूतानि–आकाश-वायु - अग्नि - अप्-भूमयः ।

स्थूलशरीरम्–पञ्चभौतिकशरीरम् । प्रधानादि पृथिवी पर्यन्ततत्त्वनिष्पन्नं षट्भावविकारसंवलितमतात्त्विकं शरीरम् ।

स्पन्दः–ह-कला । स्वातन्त्र्यशक्तिः । अचलस्य चलताभासनचमत्कारश्च ।

स्पर्शः–परसंवित्साक्षात्कारः ।

स्पर्शभूः–आह्लादः । आनन्दशक्तिः ।

स्वच्छन्दः–स्वतन्त्रः । शिवः ।

स्वप्नः–बाह्यार्थविषयाभावे अन्तर्विकल्पानां नवनवोदयः ।

स्वाच्छ्यन्दम्–अभेदे भेदनं, भेदिते च पुनरनुसन्धानेन अभेदनं संयोजनवियोजनकर्तृत्वरूपम् । स्वातन्त्र्यम् । सत्यपि वेदकत्वे स्वात्मनो वेद्यत्वेनावभासनरूपं वा ।

स्वातन्त्र्यशक्तिः–विमर्शशक्तिः । सारः । ऐश्वर्यम् । अनन्यापेक्षित्वम् च । स्वातन्त्र्यम्–प्रभुशक्तिः ।

हठपाकः–शाम्भवोपायः (हठः क्रयातिक्रमरूपसकृदुपदेशात्मबलात्कारः, तेन पाकः चिदग्निसाक्षात्कारः) ।

हृदयम्–ऊर्मिः । सारम् । स्पन्दः ।

हृद्बिन्दुः–नराख्यो बिन्दुः । विदिक्रियायां स्वतन्त्रः प्रमाता बिन्दुः इत्युच्यते ।

हंसजपः–नादकलापरामर्शः ।

ह्रदः–चिदात्मा ।

हार्दी–सिद्धयोगिनीमेलापशक्तिः । थाम्याशक्तिः ।